आचार्य रामानुज के आविर्भाव के पूर्व विशिष्टाद्वैत वेदान्त
का
समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धाता

शिवाकान्त द्विवेदी

एम्० ए०

पर्यवेक्षक

डॉ० रामकिशोर शास्त्री

रीडर
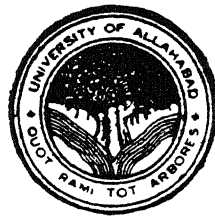
संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

संवत् 2054 वैक्रमीय

प्राक्कथन

'दर्शन' समस्त मानवजाति को धरोहर के रूप में प्राप्त एक अमूल्य निधि है । प्राच्य एवं पाश्चात्य देशों के दर्शनों की अपनी-अपनी परम्पराएँ तथा विशेषताएँ रही हैं । इनका विकास परस्पर निरपेक्षभाव अथवा एक के द्वारा दूसरे को प्रभावित करने से हुआ है, इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है । 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के इसी सिद्धान्त के आधार पर पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दर्शनों में नैकविध विभेद होते रहे हैं । इसी क्रम में भारतीय दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत 'वेदान्तदर्शन' अस्तित्व में आया । वेदान्त साहित्य में वेदों का निर्णयार्थ या निश्चयार्थ वर्णित है । इसी वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में विशिष्टाद्वैत वेदान्त का अनुत्तम स्थान है । विशिष्टाद्वैत दर्शन श्रीवैष्णव या भागवत मत पर आधृत है ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों पर यद्यपि अनेकानेक शोध कार्य हुए हैं किन्तु आचार्य रामानुज के आविर्भाव के पूर्व इसके क्रमबद्ध समीक्षात्मक अध्ययन पर अभी तक कोई शोधकार्य प्रकाश में नहीं आया है । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध इसी रिक्तता की पूर्ति हेतु किया गया एक लघुप्रयास है जिसमें मैंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि वेदों में बीज रूप में पाए जाने वाले विशिष्टाद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त आचार्य रामानुज के पूर्व तक एक सुव्यवस्थित आधार प्राप्त कर चुके थे । इसी शक्त आधाराश्म पर रामानुज ने अपने विशिष्टाद्वैत मत के विशाल एवं दुर्भेद्य भवन को निर्मित किया ।

'आचार्य रामानुज' के आविर्भाव के पूर्व विशिष्टाद्वैत वेदान्त का समीक्षात्मक अध्ययन' विषय पर शोध करने की सत्प्रेरणा मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में रीडर, भारतीय दर्शनशास्त्र तथा संस्कृतसाहित्य के उद्भट विद्वान् माननीय डॉ० रामकिशोरशास्त्री से मिली जिनके विद्वत्तापूर्ण व सफल पर्यवेक्षण में मैं यह शोधप्रबन्ध प्रस्तुत कर पा रहा हूँ । विश्वविद्यालयीय शिक्षा के आरम्भिक दिवसों

से ही आदरणीय डॉ0 शास्त्री जिस प्रकार पुत्रवत् स्नेह प्रदान करके मेरे अज्ञानान्ध तमस को निरन्तर दूर करते रहे हैं उसके लिए किसी प्रकार का कृतज्ञता-ज्ञापन निश्चय हीअसहज स्नेह की गुरुता का व्यापादक होगा । परमपूज्य श्री गुरुदेव ने प्रस्तुत शोध विषय की दुरूहता पर दृष्टि रखते हुए भी कदाचित् दर्शन विषय में मेरी अभिरुचि तथा विद्यालयीय एवं विश्वविद्यालयीय शैक्षाणिक योग्यताओं को देखकर ही मुझे शोध हेतु यह विषय प्रदान करने की कृपा की है, एतदर्थ मैं कभी भी उनसे अनृण नहीं हो सकता ।

गुरुकृपा तथा अपने परिश्रम के बल पर शोध-विषय को समझने तथा उसे क्रमबद्धरूप से निरूपित करने का प्रयास मैंने किया है । मेरा यह प्रयास कितना सार्थक एवं सफल है ? यह तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु इसका नीरक्षीरविवेक स्वयं वहीं सुधीजन करेंगे जिनके समक्ष यह शोध-प्रबन्ध सादर प्रस्तुत है ।

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की वर्तमान अध्यक्षा, असाधारण विदुषी प्रो0 ज्ञानदेवी श्रीवास्तव को मैं हार्दिक नमन करता हूँ जिनका सहज स्नेह मेरे लिए सर्वदा सम्बल रहा है । उनकी असीम अनुकम्पा के कारण ही मुझे संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दो वर्षों तक अध्यापन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ , जिससे न केवल मेरा ज्ञान संबर्धन हुआ अपितु आर्थिक लाभ भी हुआ, एतदर्थ मैं उन पूजनीया गुरुवर्य्या के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ । इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के भूतपूर्व कुलपति एवं संस्कृत विभागाध्यक्षचर गुरुवर्य प्रो0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव तथा संस्कृत विभाग के भूतपूर्व रीडर गुरुवर्य पं0 राजकुमार शुक्लजी के प्रति मैं सादर नमोवाक् अभिव्यक्त करता हूँ जिनके उत्साहसंवर्धन एवं विद्वत्तापूर्ण सुझावों से अध्ययन-काल के दौरान मैं सर्वदा लाभान्वित होता रहा हूँ । संस्कृत विभाग के गुरुजनों

प्रो० चन्द्रभूषण मिश्र, डॉ० कौशल किशोर श्रीवास्तव तथा डॉ० शंकर दयाल द्विवेदी का भी मैं कम आभारी नहीं हूँ जिनके स्नेहिल सान्निध्य एवं सामयिक सत्परामर्शों के कारण ही आज मैं यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पा रहा हूँ ।

अपने पूज्यपाद पितामह श्री केवलाप्रसाद द्विवेदी तथा पितामही श्रीमती अभिलाषी देवी को मैं मानसिक नमन करता हूँ जिनके निश्छल स्नेहाशीष से मैं सर्वदा अभिषिञ्चित होता रहा हूँ । इन्हीं के पुण्य प्रभाव से यह गुरुतर कार्य सम्पादित हो सका है ।

मातृऋण एवं पितृऋण से कोई भी व्यक्ति कदापि अनृण नहीं हो सकता । जिस ममतामयी माँ श्रीमती इन्द्रावती देवी तथा जिन महनीय पितृचरण पं० श्री रमा शङ्कर द्विवेदी, प्रवक्ता (अंग्रेजी) श्री लालचन्द इण्टर कालेज, जसरा, इलाहाबाद के स्नेहिल वात्सल्य में जन्म से लेकर अद्यावधि मैं पला-बढ़ा और जिन्होंने जीवन के अनेक झंझावातों को सहन करते हुए न केवल मेरी खुशी में ही अपने सुखों का अनुभव किया अपितु उच्च अध्ययन के लिए सर्वदा सत्प्रेरणा एवं तन्निमित्त व्यवस्था प्रदान किया, उन माता-पिताजी से तो जन्मजन्मान्तर तक ऋणमुक्त होना असंभव है । अपने पितृव्यों सर्वश्री प्रेमशंकर द्विवेदी, राकेश प्रसाद द्विवेदी तथा सुरेशप्रसाद द्विवेदी को भी मैं हार्दिक नमन करता हूँ, जिनके स्नेह के कारण मैं अद्यावधि गृहस्थी के जंजाल से मुक्त रहकर प्रकृत शोधप्रबन्ध को पूर्ण कर सका । इसी के साथ मैं अपनी पाणिगृहीती (भार्या) श्रीमती सन्ध्या द्विवेदी, जो मुझे कर्त्तव्यपथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देती रही हैं, को भी धन्यवाद देने की औपचारिकता का निर्वहन कर रहा हूँ, जिसके अभाव में मैं स्वयं को अनृण नहीं मान सकता । इसके अतिरिक्त अनुज चि०

श्यामाकान्त द्विवेदी को भी साधुवाद देता हूँ जिसने साथ रहकर अनुजत्व का विधिवत् निर्वाह किया ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पूर्ण होने में उत्साहवर्धन एवं प्रेरणा प्रदान करने वाले प्रख्यात चिकित्सक डॉ० एस०पी० पाण्डेय, मेडिकल ऑफिसर (होम्योपैथी), इतिहासविद् डॉ० रामवर्ण शुक्ल, प्रवक्ता, इलाहाबाद डिग्री कालेज, श्री चन्द्रशेखर शास्त्री, श्री लक्ष्मी चन्द इण्टर कालेज, जसरा, डॉ० व्यासजी द्विवेदी, रीडर, सी०एम०पी० डिग्री कालेज पं० शालिग्राम मिश्र, प्रधानाचार्य, नेहरू इण्टर कालेज, रोही, श्री शिवश्याम पाण्डेय, प्रधानाचार्य ऋषिकुल उ०मा०वि०, राजापुर, इलाहाबाद, डॉ० विजय प्रकाश श्रीवास्तव संस्कृत साहित्य के प्रगल्भ विद्वान् अग्रज डॉ० अरविन्द मिश्र, प्रवक्ता संस्कृत विभाग जी० डी० बिनानी पी०जी० कालेज, मिर्जापुर, श्री रविराज प्रताप मल्ल, व्यापारकर अधिकारी, श्री अनिल कुमार पाण्डेय, पुलिस उपनिरीक्षक के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना तो मेरी धृष्टता ही होगी ।

माता-पिता एवं गुरुजनों के पश्चात् प्रकृत शोध-प्रबन्ध के पूर्ण होने में सुख-दुःख के साथी सहाध्यायी, अनुजतुल्य मित्रद्वय श्री श्याम सुन्दर तिवारी, व्यापार कर अधिकारी तथा श्री मनीष पाण्डेय, वरिष्ठ शोध अध्येता के अनन्य सहयोग का मैं हृदय से आभारी हूँ । इसके अतिरिक्त सुहृद् सुरेश चन्द्र पाण्डेय के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने कई वर्षों तक साथ रहकर अपने सौहार्द का अभूतपूर्व परिचय दिया है । इसी क्रम में अनुजसदृश इन्द्रदेव मिश्र को यत्किंचित् सहयोग के लिए धन्यवाद देना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ ।

अन्त में, मैं श्री राम बरन यादव को शोध-प्रबन्ध के टङ्कणकार्य को यथा संभव शुद्ध रूप में सम्पन्न करने के लिये भूरि-भूरि साधुवाद देता हूँ तथा साथ ही, अन्य समस्त ज्ञाताज्ञात मित्रजनों को यथोचित धन्यवाद ज्ञापित करता हुआ मैं प्रकृत शोध-प्रबन्ध को नीरक्षीरविवेक हेतु विद्वत्समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करने का कर्त्तव्य निभा रहा हूँ ।

शरद् पूर्णिमा, संवत् 2054 वैक्रमीय

विदुषां वशंवद,
शिवाकान्त द्विवेदी
(शिवाकान्त द्विवेदी)

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

1. भारतीय दर्शन में वेदान्त

(1) दर्शन क्या है ?

(2) दर्शन की उत्पत्ति

(3) भारतीय दर्शन का स्वरूप

(क) नास्तिक दर्शन

(1) चार्वाक

(2) बौद्ध

(3) जैन

(ख) आस्तिक दर्शन

(1) न्याय

(2) वैशेषिक

(3) साङ्ख्य

(4) योग

(5) पूर्वमीमांसा

(6) उत्तरमीमांसा या वेदान्त

(क) वेदान्त का अर्थ

(ख) वेदान्त दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय

(1) अद्वैत

(2) विशिष्टाद्वैत

(3) द्वैत

(4) द्वैताद्वैत

(5) शुद्धाद्वैत

दर्शन क्या है ?

अनादिकाल से मानव-मस्तिष्क इस दृश्यमान प्रपञ्च के रहस्यपूर्ण तथ्यों को जानने के निमित्त जिज्ञासु रहा है । इसी जिज्ञासा ने मानव-इतिहास में नैकविध आविष्कारों को जन्म दिया है, जिनमें से एक है 'दर्शन' ।

'दर्शन' शब्द दृशिर् (दृश्) प्रेक्षणे धातु से करण अर्थ में ल्युट् (अन) प्रत्यय लगकर बना है जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - दृश्यते अनेनेति दर्शनम् अर्थात् जिसके द्वारा प्रकृष्ट रूप से देखा जाय वह 'दर्शन' है । यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से होता है कि किसके द्वारा देखा जाय ? और फिर क्या देखा जाय ? यहाँ पर साधन तथा साध्य दोनों की जिज्ञासा की गयी है । 'साधन' से तात्पर्य यहाँ उस माध्यम से है जिससे किसी वस्तु को देखा या उसका साक्षात्कार किया जाता है । इस अर्थ में 'चक्षुरिन्द्रिय' ही साधन कही जा सकती है क्योंकि उससे ही विषयों का सन्निकर्ष होता है किन्तु चक्षुरिन्द्रिय से तो जगत् का स्थूल रूप ही गम्य हो सकता है सूक्ष्म या सत् रूप नहीं । ऐसा होने पर यह कहा जाता है कि सत् या सूक्ष्म पदार्थों को 'प्रज्ञाचक्षु' या 'ज्ञानचक्षु' के द्वारा देखा जा सकता है क्योंकि देखा जाता है कि तपस्यादि यौगिक क्रियाओं या भगवान् के विशेष अनुग्रह से योगियों तथा ऋषियों का ज्ञान-चक्षु जब उन्मीलित हो जाता है तब वे सूक्ष्म पदार्थों को भी हस्तामलकवत् देखने में समर्थ हो जाते हैं । इस प्रकार 'दर्शन' से लौकिक तथा दिव्य दोनों प्रकार की दृष्टियों का बोध होता है । अमरकोश में 'दर्शन' का अर्थ - आलोकन तथा ईक्षण' किया गया है ।[1] भारतीय दर्शन में दर्शन

1. दर्शनालोकनेक्षणे - अमरकोश 3/2/31.

शब्द का प्रयोग केवल 'तत्त्वदृष्टि' या तत्त्व साक्षात्कार के करणभूत-प्रज्ञाचक्षु के अर्थ में ही नहीं हुआ है बल्कि तत्त्व साक्षात्कार की प्राप्ति के उपायों के लिए भी किया गया है। त्रिविध तापों - आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक से पीड़ित होकर उनसे छुटकारा पाने के लिए साधक शिष्य जब परमकारूणिक आचार्य के पास जाता तो दया करके आचार्य उसको आत्मोपदेश करते हैं कि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य:, श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितव्य:'[1] अर्थात् अरे ! आत्मा का साक्षात्कार करो और इसके लिए श्रवण करो, मनन करो तथा निदिध्यासन करो। इस प्रकार 'दर्शन' शब्द से श्रवण, मनन और निदिध्यासन' का भी बोध होता है।

दर्शन के 'साध्य' की जिज्ञासा होने पर यह कहा जाता है कि 'तत्त्व का साक्षात्कार ही दर्शन का साध्य है। 'तत्त्व' कहते हैं 'ब्रह्म' के यथावत् स्वरूप को।[2] इसी तत्त्व या ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के साक्षात्कार को ही 'दर्शन' कहते हैं। मनु ने इसी 'तत्त्व साक्षात्कार' को सम्यक् दर्शन कहा है।[3]

भारतीय 'दर्शन' शब्द का प्रयोग पाश्चात्य वाङ्मय में 'फिलॉसफी' के रूप में किया गया है किन्तु दोनों में पर्याप्त भेद है। पाश्चात्य वाङ्मय में फिलॉसफी शब्द

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् - 2/4/4.

2. तद् इति सर्वनाम, सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तद् इति तद्भाव: तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यम्। - शङ्करकृत गीताभाष्य।

3. सम्यक्दर्शनसम्पन्न: कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेनविहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ - मनुसंहिता 6/74.

'फाइलॉस' तथा 'सोफिया' इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसमें फाइलॉस का अर्थ है अनुराग या प्रेम तथा सोफिया का अर्थ है ज्ञान । इस प्रकार फिलॉसफी का अर्थ हुआ ज्ञान के प्रति अनुराग या प्रेम । पाश्चात्य जगत् में फिलॉसफी का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है । इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए 'दर्शन' या फिलासफी बौद्धिक व्यायाम या बौद्धिक विलास की वस्तु होकर रह गया है । यद्यपि काण्ट, प्लेटो, शॉपेनहावर जैसे पाश्चात्य दार्शनिक विचारकों ने फिलॉसफी को इसकी मूल परिधि से उठाकर व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया है किन्तु अन्य दार्शनिकों के लिए अभी भी 'फिलॉसफी' बौद्धिक विलास से अधिक कुछ नहीं है । यही भारतीय दर्शन और पाश्चात्य 'फिलॉसफी' का भेद है ।

दर्शन की उत्पत्ति

दर्शन की उत्पत्ति कैसे और कहाँ हुई ? इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है । प्रायः भारतीय विद्वान् संशय[1] या जिज्ञासा से दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं । ऐसा लगता है कि जब मानव के लिए किसी कर्त्तव्य का विधान किया गया होगा, सुखप्राप्ति तथा दुःखनाश के उपाय भी बताए गए होंगे, तब उसे अपने स्वरूप तथा जगत् के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी । उसी से दर्शन की उत्पत्ति हुई होगी । कम से कम भारतीय दर्शन के मूल में यही प्रवृत्ति दिखायी देती है । पाश्चात्य विद्वान् 'दर्शन की उत्पत्ति 'आश्चर्य' से मानते हैं किन्तु भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं । वे तो जिज्ञासा से ही परमतत्व को पाना चाहते हैं ।[2] कुछ दुःख से भी दर्शन

---

1. नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेन्यायः प्रवर्तते किन्तु संदिग्धे । - न्यायसूत्र

2. 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' - ब्रह्मसूत्र, 1/1/1, 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' - तैत्तिरीय उपनिषद्, 3/1

उत्पत्ति मानते हैं किन्तु उसकी परिणति दुःखनाश में करते हैं ।

जहाँ तक भारतीय दर्शन के उत्पत्तिस्थान का सम्बन्ध है, विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद में भारतीय दार्शनिक प्रवृत्ति का बीज प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा जाता है कि सबसे पहले पुरुष ही एकमात्र सत् तत्त्व था और वहीं आगे भी रहेगा ।[1] वहीं आगे कहा गया है कि उस सत् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई ।[2] ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के पहले न सत् था न असत् था, रजस् पातालपर्यन्त पृथ्वी आदि लोक भी नहीं थे । अन्तरिक्ष नहीं था तो फिर क्या था ? क्या जल ही जल था ?[3] इस प्रकार ऋग्वेद में जिज्ञासापरक, तत्त्वपरक वाक्यों से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से हुई और इसका स्रोत मुख्यत: ऋग्वेद ही है । चूँकि ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वेद के ही भाग हैं, इसलिए ये ग्रन्थ भारतीय दर्शन के मूल तो क्या स्वयं भारतीय दर्शन हैं ।

भारतीय दर्शन का स्वरूप

भारतीय दर्शन मूलत: आध्यात्मिक है । प्राय: प्रत्येक भारतीय दार्शनिक 'आत्मा' की सत्ता को स्वीकार करता है चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो । इसी

---

1. पुरूष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्चभाव्यम् ।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्येनातिरोहति ॥ - ऋग्वेद 10/9/2.

2. वही, 10/90/12.

3. नासदासीन्न सदासीत्तदानीं, नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।
   किमावरीव: कुह कस्य शर्मन्नम्भ: किमासीत् गहनम् गभीरम् ॥
   वही, 10/129/1.

अध्यात्मपरता से उद्वेलित होकर सभी दार्शनिक एक 'परमसत्ता' की जिज्ञासा करते रहे हैं। इसी आध्यात्मिक मनोवृत्ति से उनके मन में विक्षोभ उत्पन्न हुआ जिसके कारण उनमें विचार की उत्पत्ति हुई और इस विचार को उन्होंने त्रिविध दुःखों के निवारणार्थ प्रयुक्त किया। इसीलिए भारतीय दर्शन पर जो यह मिथ्या आरोप लगाया जाता है कि यह निराशावादी है, वह पूर्णतः निराधार है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में दुःख कातरता दिखायी देती है फिर भी वह उसका ध्येय नहीं है वरन् उससे मुक्ति ही उसका परम ध्येय है। अतः भारतीय दर्शन निराशावादी नहीं वरन् आशावादी है।

स्वरूप के आधार पर भारतीय दर्शन को दो भागों में बाँटा जा सकता है - नास्तिक तथा आस्तिक। प्रायः यह कहा जाता है कि 'ईश्वर' को मानना न मानना आस्तिक और नास्तिक होना है, जैसा कि पाणिनि मानते हैं। पाणिनि के अनुसार परलोक बुद्धि वाला आस्तिक और उससे भिन्न व्यक्ति नास्तिक कहा जाता है।[1] किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि मीमांसा, और सांख्य ईश्वर को नहीं मानते हैं फिर भी वे आस्तिक कहे जाते हैं तथा बौद्ध और जैन परलोक में विश्वास करते हैं फिर भी नास्तिक कहे जाते हैं। आस्तिक और नास्तिक की एक दूसरी परिभाषा मनु ने दी है जो प्रायः सर्वमान्य है। मनु के अनुसार वेद के प्रामाण्य को मानने वाला आस्तिक है तथा वेद को अप्रामाण्य मानने वाला नास्तिक है।[2]

---

1. अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः। सिद्धान्तकौमुदी, 4/4/60.
   अस्ति परलोकम् इति मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्ति परलोकम् इति मतिर्यस्य स नास्तिकः। वही, 4/4/60, पर भट्टोजिदीक्षित कृत व्याख्या।

2. योऽवमन्येत ते मूले हेतु शास्त्रनयाद्द्विजः।
   स साधुभिर्बहिःकार्यो नास्तिको वेद निन्दकः। मनु0 2/11.

इस प्रकार वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक है तथा वेद में विश्वास करने वाला आस्तिक है । भारतीय दर्शन नास्तिक तथा आस्तिक के इसी स्वरूप के आधार पर दो भागों - नास्तिक तथा आस्तिक में बाँटा गया है । नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन एवम् आस्तिक दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा या वेदान्त की गणना होती है । इन्हें षड्दर्शन कहा जाता है ।

नास्तिक दर्शन

चार्वाक दर्शन

नास्तिक दर्शनों में सर्वप्रथम चार्वाक या लोकायत का नाम लिया जाता है । इसके आदि आचार्य बृहस्पति माने गये हैं । यह एक जड़वादी, भौतिकवादी दर्शन है यह सुखवाद का प्रतिपादक है । इसका सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जब तक व्यक्ति जीवित रहे, सुखपूर्वक जिये तथा ऋण लेकर घृत पिये । इस शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः इस संसार में आगमन कहाँ ?[1] यह केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है ।[2] अनुमान और शब्दादि प्रमाणों को निराधार मानता है । यद्यपि यह प्रत्यक्षतः आत्मा की सत्ता नहीं मानता किन्तु देह को ही आत्मा कहता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चार्वाक भी आत्मा जैसे परमसत् तत्त्व को नकार नहीं सके । यद्यपि ईश्वर या पर-लोक में इनका विश्वास कदापि नहीं था । 'काम' को ही इन्होंने एकमात्र पुरुषार्थ तथा

---

1. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।। सर्वदर्शनसङ्ग्रह

2. प्रत्यक्षमेवैकैव प्रमाणम् । बृहस्पतिसूत्र 20.

'मरण' को ही मोक्ष माना ।[1] आगे चलकर कुछ चार्वाकों ने काम के साथ-साथ धर्म को भी जोड़ दिया । यदि अर्थ और काम धर्म से समन्वित शासित नहीं हैं तो सर्वोच्चसुख प्राप्त नहीं हो सकता । धर्म, अर्थ और काम से समन्वित जीवन ही सुखी हो सकता है ।[2] चार्वाक, पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों को ही महाभूत मानते हैं तथा इनसे चैतन्य शरीर की उत्पत्ति मानते हैं ।[3] आज चार्वाकों का कोई भी मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । दर्शन के ग्रन्थों में इस मत की यत्र-तत्र चर्चा है । सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाकों के सिद्धान्तों का सङ्कलन किया गया है ।

जैन दर्शन

अवैदिक दर्शनों में दूसरा जैन दर्शन है । यह भी एक प्राचीन दर्शन है जिसके प्रवर्तक महावीर स्वामी माने जाते हैं । इसके प्राचीन आचार्यों में उमास्वाति स्वामी का नाम सादर लिया जाता है । जैन दर्शन में सूक्ष्म समस्याओं पर विचार किया गया है । इसके अनेकान्तवाद[4] तथा स्याद्वाद सिद्धान्त मौलिक सिद्धान्त हैं । इनका अभिप्राय यह है कि विविध दृष्टियों से वस्तु के विविध रूप सत्य हैं । मध्ययुग में जैन -

---

1. काम एवैकः पुरुषार्थः । मरणमेवापवर्गः । बृहस्पतिसूत्र

2. परस्परस्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत । कामसूत्र, अध्याय 2.

3. पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि । किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।
   - बृहस्पतिसूत्र ।

4. अनन्तधर्मकं वस्तु । अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम् । अन्ययोगव्यवच्छेदिका, पृष्ठ 22.

तर्कशास्त्र का भी पर्याप्त विकास हुआ । सिद्धसेन दिवाकर को जैन-तर्कशास्त्र का संस्थापक कहा जाता है । आगे चलकर अकलंकदेव तथा विद्यानन्द ने जैन न्याय को पर्याप्त समृद्ध बनाया । प्रभाचन्द्र के 'न्यायकुमुदचन्द्र' तथा 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ तर्कशास्त्र की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी है । इनके अतिरिक्त हेमचन्द्रसूरि ।12वीं शदी। के 'प्रमाणमीमांसा' आदि ग्रन्थों तथा मल्लिषेण की 'स्याद्वादमञ्जरी' में जैन-न्याय का विशद विवेचन किया गया है ।

बौद्ध दर्शन

नास्तिक दर्शनों में अन्तिम दर्शन बौद्ध दर्शन है । भगवान् बुद्ध इस दर्शन के प्रतिपादक थे । 'त्रिपिटक' बौद्धों का प्रमुख एवं पवित्र ग्रन्थ है जिसमें भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संग्रह किया गया है । बौद्ध दर्शन के अनेक प्रस्थान हैं जिनमें थेरवाद सबसे प्राचीन है । बौद्ध दर्शन के उपदेशों में चार आर्यसत्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । वे चार आर्यसत्य हैं - दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध, दुःख निरोध के उपाय । इन उपायों में अष्टाङ्गिक मार्गों की विशेष महत्ता है । ये आठ मार्ग हैं - सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि । इस प्रकार इन आठों मार्गों से तृष्णा तथा विद्यादि द्वादशचक्र का विनाश होकर पुनर्जन्म की संभावना खत्म हो जाती है तथा निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है । आधुनिक दार्शनिकों ने बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायों का वर्णन किया है - वैभाषिक ।बाह्य प्रत्यक्षवादी।, सौत्रान्त्रिक ।बाह्यानुमेयवादी।, योगाचार ।विज्ञानवादी। तथा माध्यमिक ।शून्यवादी। । योगाचार दर्शन में असंग तथा वसुबन्धु तथा माध्यमिक दर्शन में नागार्जुन का नाम महत्त्वपूर्ण है । दिङ्नाग को बौद्ध-न्याय का प्रथम

आचार्य 'कहा जाता है । इनका 'प्रमाण समुच्चय' जो मूलरूप में पूर्णतया उपलब्ध नहीं है, भारतीय तर्कशास्त्र की अमूल्य निधि है । धर्मकीर्ति द्वारा लिखित प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु इत्यादि ग्रन्थ बौद्ध, तर्कशास्त्र के आधारस्तम्भ है । इनके बाद बौद्ध न्याय परम्परा में शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह कमलशील की तत्त्वसंग्रहपंजिका, रत्नकीर्ति तथा ज्ञानश्रीमित्र के बौद्ध, विषयक ग्रन्थ अतिमहत्त्वपूर्ण हैं ।

आस्तिक दर्शन

साङ्ख्य दर्शन

आस्तिक दर्शनों में सांख्य सर्वप्राचीन है । कपिलमुनि इसके प्रवर्तक माने जाते हैं । इनका काल बुद्ध से भी पूर्व लगभग 700 ई0पू0 माना जाता है । भारत में कपिल मुनि ने ही सर्वप्रथम दार्शनिक विचारों को शास्त्रबद्ध किया । सांख्य दर्शन द्वैतवादी, वस्तुवादी दर्शन है तथा प्रकृति (जड़) और पुरूष (चेतन) इन दो मूलतत्त्वों के संसर्ग से सृष्टि का उद्भव व विकास मानता है । इस प्रकार यह 25 तत्त्वों को मानता है । इसका विकासवादी सिद्धान्त बहुत ही वैज्ञानिक है । इसके अनुसार प्रकृति एक है पुरूष अनेक हैं । कपिल के नाम से दो ग्रन्थ प्रचलित हैं - तत्त्वसमास और सांख्यप्रवचन सूत्र।

कपिल के पश्चात् आसुरि, पंचशिख इत्यादि अनेक आचार्य हुए जिनके मतों का उल्लेख मिलता है लेकिन उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते । इसके अतिरिक्त ईश्वर कृष्ण का नाम आता है जिन्होंने 'साङ्ख्यकारिका' लिखी । यह सांख्यदर्शन का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है जिसकी अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी तथा सांख्यचन्द्रिका प्रमुख हैं । इनमें वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा विद्वत्तापूर्ण है ।

योगदर्शन

योगदर्शन के मूलप्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं जिन्होंने योगसूत्र का प्रणयन किया। 'योगदर्शन' में योग 'समाधि' के अर्थ में आया है।[1] समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में हो जाता है अतः चित्तवृत्तिनिरोध को ही समाधि कहते हैं।[2] इस निरोध का अर्थ है द्रष्टा (साधक) का अपने स्वरूप में (कैवल्य में) स्थित हो जाना।[3] योगदर्शन में अष्टाङ्ग योग का विस्तारपूर्वक वर्णन है जिनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आते हैं।

सांख्य योग समानान्तर दर्शन कहे जाते हैं। योगदर्शन का तत्त्ववाद वही है जो सांख्य दर्शन का है। इसमें भी सांख्य की तरह 25 तत्त्वों का वर्णन है। कुछ लोग ईश्वर नामक तत्त्व के जुड़ जाने से इसे 'सेश्वर सांख्य' तथा 26 तत्त्वों वाला कहते हैं किन्तु यह 26 तत्त्वों वाला नहीं है क्योंकि इसका ईश्वर तो एक प्रकार का पुरुष ही है।[4]

योगसूत्रों पर सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका 'व्यासभाष्य' है। इसके अतिरिक्त 'भोजवृत्ति, मणिप्रभा आदि व्याख्यायें भी उपलब्ध हैं। व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' तथा 'योगवार्तिक' दो प्रसिद्ध टीकायें हैं।

---

1. योगःसमाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। - योगसूत्र1-1 पर व्यासभाष्य।
2. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगसूत्र1-2.
3. तदाद्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्। वही,1-3.
4. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। योगसूत्र - 1-24

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन भारतीय दर्शन का तर्कशास्त्र है । यह वस्तुवादी दर्शन है । इसका मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण मीमांसा है । गौतम न्याय दर्शन के आदि आचार्य हैं । इन्होंने न्यायसूत्र की रचना की । वात्स्यायन ने इस पर 'न्याय-भाष्य' लिखा । उद्योतकर ने 'न्यायवार्तिक' की रचना की । वाचस्पति मिश्र ने इस वार्तिक को सुस्पष्ट करने के लिए न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका लिखी । जयन्तभट्ट न्यायदर्शन के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं ।

पहले न्याय दर्शन में ज्ञानमीमांसा के साथ तत्त्वमीमांसा का भी निरूपण किया जाता था किन्तु तेरहवीं शदी में 'गंगेश उपाध्याय' की 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक पुस्तक से तत्त्व मीमांसा का अदर्शन होकर केवल ज्ञानमीमांसा का ही निरूपण होने लगा । इसे 'नव्यन्याय' की संज्ञा दी गयी और नव्यन्याय का जनक गंगेश को कहा जाने लगा । इसके बाद नव्यन्याय का विकास बंगाल में हुआ जिसके रघुनाथ शिरोमणि मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश भट्टाचार्य और गदाधर भट्टाचार्य प्रमुख प्रतिपादक हैं । गौतम न्याय को प्राचीन न्याय कहा गया ।

प्राचीन न्याय में षोडश पदार्थों का वर्णन किया गया है । वे सोलह पदार्थ हैं - प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान । न्याय दर्शन का प्रभाव भारत के सभी दर्शनों पर समान रूप से पड़ा है ।

यद्यपि न्यायविद्या के अर्थ में 'न्याय' शब्द का प्रयोग बहुत बाद में हुआ परन्तु

न्याय शब्द बहुत प्राचीन है । पाणिनि ने एक स्थान पर 'अभ्रेष' अर्थ में नि उपसर्गपूर्वक इण् धातु से घञ् प्रत्यय करके 'न्याय' की निष्पत्ति बतायी है ।[1] 'अभ्रेष' का अर्थ काशिका में पदार्थों का अतिक्रमण न करना या जैसा प्राप्त हो वैसा करना किया गया है ।[2] इस प्रकार न्याय का अर्थ हुआ 'उचित' । संभवतः यही अर्थ विकसित होकर 'न्यायविद्या' या तर्कविद्या का रूप धारण कर लिया क्योंकि 'न्यायदर्शन' में उचित-अनुचित का विमर्श ही तो किया गया है । न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चार ज्ञान के साधनों (प्रमाणों) की विस्तृत व विशद व्याख्या की गयी है ।

वैशेषिक दर्शन

कणाद मुनि को वैशेषिक दर्शन का आदि आचार्य माना जाता है । विशेष नामक एक विलक्षण पदार्थ को मानने से इसका नाम वैशेषिक पड़ा । वैशेषिक दर्शन को 'औलूक्य दर्शन' भी कहा जाता है क्योंकि 'बौद्ध जनश्रुति' के अनुसार इस दर्शन के प्रणेता का नाम 'उलूक' था । जैन लेखक राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका में बताया है कि 'कणादमुनि' की तपस्या से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उलूक के रूप में प्रकट होकर उनको पदार्थों के विषय में उपदेश दिया था । इसी आधार पर इस दर्शन का नाम औलूक्य दर्शन पड़ा ।

----

1. परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः । पाणिनिसूत्र 3/3/37.

2. पदार्थानामपचारो यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः । काशिकावृत्ति ।

वैशेषिक दर्शन 'सातपदार्थों' को मान्यता देता है । ये 'सप्तपदार्थ' हैं :- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय और अभाव । इनमें प्रथम छः भाव पदार्थ हैं और सातवाँ अभावात्मक है । चन्द्रनाम के वैशेषिक दार्शनिक ने इनमें शक्ति, अशक्ति तथा सामान्य विशेष - इन तीन अन्य पदार्थों की भी चर्चा की है । इस प्रकार इनके कुल दश पदार्थ होव्र जाते हैं । ये सभी पदार्थ प्रत्यक्ष तथा अनुमान के आधार पर सिद्ध किये जाते हैं ।

जहाँ तक वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों की बात है 'कणादि ने वैशेषिक सूत्रों की रचना की । प्रशस्तपाद ने उस पर 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह' नामक भाष्य लिखा । इसे 'प्रशस्तपादभाष्य' भी कहा जाता है । 'प्रशस्तपादभाष्य' पर उदयनाचार्य ने 'किरणावली' और श्रीधर 'न्यायकन्दली' नामक टीकाएँ लिखीं । विश्वनाथ द्वारा रचित भाषा परिच्छेद या कारिकावली तथा उसी पर लिखी 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' टीका वैशेषिक दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं ।

पूर्वमीमांसा दर्शन

पूर्वमीमांसा दर्शन मीमांसा दर्शन भी कहा जाता है । मीमांसा शब्द पूजार्थक मान (पूजायाम्) धातुसेसन्, अ तथा टाप् प्रत्ययों के योग से बना है । वार्तिककार कात्यायन मान् धातु को जिज्ञासार्थक भी मानते हैं-(मानेर्जिज्ञासायाम् (वा0) । 'जिज्ञासा' पद लक्षणा से 'विचार' अर्थ का भी बोध कराता है ।[1] इस प्रकार मीमांसा

---

1. जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा - अर्थसंग्रह, पृष्ठ 4.

शब्द का अर्थ हुआ - पूजित विचार ।[1] वेदों का कर्मकाण्डीय भाग ही मीमांसा दर्शन है । मीमांसा के आदि आचार्य जैमिनिमुनि हैं । इसका प्रमुख विषय ब्राह्मण वाक्यों के बीच संगति स्थापित करना है, किन्तु सातवीं शताब्दी में यह सम्प्रदाय दार्शनिक विवेचन की ओर प्रवृत्त दिखायी पड़ता है । इसका श्रेय कुमारिल भट्ट और उनके शिष्य प्रभाकर मिश्र को जाता है । इनके मत क्रमशः भाट्ट तथा गुरूमत कहे गये हैं । मीमांसासूत्रों पर शबर स्वामी का शबरभाष्य है । 'श्लोकवार्तिक' कुमारिल का महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ है जिन्होंने शबरभाष्य पर बृहती नाम की टीका लिखी । भाट्टमत पर पार्थसारथी का ग्रन्थ 'शास्त्र दीपिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । शालिकनाथ ने बृहती पर टीका लिखकर गुरू मत की प्रतिष्ठा की ।

मीमांसा वेदों को अपौरूषेय मानता है । प्रारम्भ में मीमांसादर्शन निरीश्वरवादी था लेकिन कालान्तर में वेदान्तदेशिक ने 'सेश्वरमीमांसा' की रचना करके इसे ईश्वरवाद की ओर प्रेरित किया जिसे परवर्ती मीमांसकों आपदेव और लौगाक्षिभास्कर ने आगे बढ़ाया । मीमांसादर्शन के कुछ सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जैसे गुरूमत का त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद, अख्यातिवाद, अन्विताभिधानवाद इत्यादि । इसी प्रकार भाट्टमत का ज्ञाततावाद, विपरीतख्यातिवाद, अभिहितान्वयवाद इत्यादि । न्याय के परतः प्रामाण्यवाद के विरुद्ध मीमांसा का स्वतः प्रामाण्यवाद का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है ।

----

1. पूजितविचारवचनो मीमांसा शब्दः । परमपुरूषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता । - भामती, पृष्ठ 43.

उत्तरमीमांसा या वेदान्तदर्शन

वेदान्त का अर्थ

'वेदानामन्तः इति वेदान्तः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वेदों के 'अन्त' को 'वेदान्त' कहा जाता है । यहाँ पर 'अन्त' शब्द का अर्थ 'निर्णय' तथा निश्चय है ।[1] इस प्रकार वेदों के निर्णयार्थ, निगदितार्थ या निश्चयार्थ को ही 'वेदान्त' कहा जाता है । वेदों का यह निर्णय उपनिषदों तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है । अतः वेदान्त, उपनिषद तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का उपलक्षण है ।

वेदान्त के आधार के सम्बन्ध में सदानन्दयोगीन्द्र कहते हैं कि 'वेदान्त' उसे कहते हैं जो उपनिषद् को प्रमाण मानता हो तथा उसका अनुसरण करने वाले शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) आदि को भी प्रमाण मानता हो । आदि शब्द से यहाँ गीता भी उपनिषदों के समकक्ष बोध्य है ।[2] उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा गीता प्रस्थानत्रयी के नाम से अभिहित किए गए हैं । प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त आचार्य रामानुज तो आगम, साहित्य तथा द्रविडाम्नाय आदि को भी 'वेदान्त' की कोटि में रखते हैं । 'वेदान्त' को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं । वेदों के कर्मकाण्डीय भाग को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञानकाण्डीय भाग को उत्तरमीमांसा कहा जाता है । इन ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्त ही 'वेदान्त दर्शन' है । प्रस्थान ग्रन्थों में मुख्यतः ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है[3] अतः वेदान्त का प्रतिपाद्यविषय भी 'ब्रह्म' ही है ।

---

1. निर्णयोऽन्तश्च निश्चयः । - वैजयन्तीकोश 3/6/176.

2. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च । वेदान्तसार, 3.

3. प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या येषु तत् प्रस्थानम् इति ।

वेदान्त दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय

'वेदान्त' साहित्य में मुख्यत: उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता इन प्रस्थान ग्रन्थों की गणना होती है । इनमें ब्रह्मसूत्र या 'वेदान्तसूत्र' जिसकी रचना भगवान् बादरायण ने की थी, प्रमुख प्रस्थान है । बादरायण ने उपनिषदों का निचोड़ सूत्रों में आबद्ध किया है । अत: उनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंग से होने लगी । विभिन्न भाष्यकारों ने अपनी अपनी दृष्टि से वेदान्त का प्रतिपादन किया । इस तरह प्रत्येक भाष्यकार एक-एक वेदान्तसम्प्रदाय का प्रवर्तक बन गया । इस तरह अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय चल पड़े ।

अद्वैत वेदान्त

महर्षि बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में जैमिनि, आश्मरथ्य, बादरि, औडुलोमि, काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि और आत्रेय इन पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है । इनमें काश-कृत्स्न अद्वैतवादी थे क्योंकि शङ्कराचार्य ने उनके मत को श्रुत्यनुकूल और मान्य बताया है । शङ्कराचार्य ने द्रविडाचार्य को आगमवित् के रूप में उल्लिखित किया है, अत: संभव है ये भी अद्वैती थे । इसके अतिरिक्त उन्होंने उपवर्ष का उल्लेख वृत्तिकार के रूप में किया है, लेकिन यह कहना कठिन है कि वे अद्वैती थे या विशिष्टाद्वैती । ब्रह्मदत्त और सुन्दरपाण्ड्य भी संभवत: शङ्करपूर्व अद्वैती थे । सुप्रसिद्ध व्याकरण दार्शनिक भर्तृहरि भी अद्वैतवाद और विवर्तवाद के पोषक थे ।

गौडपाद की माण्डूक्यकारिका जिसे 'आगमशास्त्र' भी कहा जाता है, अद्वैत वेदान्त का प्रथम उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थ है । यह गौरवमय मान्य ग्रन्थ उपनिषद सारभूत अद्वैत तत्त्व की अपनी मार्मिक और प्राञ्जल कारिकाओं में सुसंगत प्रतिपादन करता है

और मुमुक्षुओं का सर्वस्व माना जाता है । इसमें चार प्रकरण क्रमशः आगम, वैतथ्य, अद्वैत और अलातशान्ति हैं । इसमें ओङ्कार को ब्रह्म या परमात्मतत्त्व बताया गया है । 'ओ३म्' के अ, उ, म, इन तीन मात्राओं द्वारा आत्मा के तीन पादों - विश्व, तैजस और प्राज्ञ का प्रतिपादन किया गया । चौथी मात्रा जो अमात्र है वह तुरीय की है जो इन तीनों का अन्तर्यामी परमात्म तत्त्व है । इन कारिकाओं में जगत् के वैतथ्य या मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है । अजातिवाद तथा अस्पर्शयोग आदि गौड़-पाद के प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं ।

गौडपादाचार्य शङ्कराचार्य के गुरू गोविन्दपादाचार्य के गुरू थे । स्वयं शङ्कर गौडपाद को परमपूज्य कहकर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम करते हैं ।[1] ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी वे उन्हें 'वेदान्तसम्प्रदायविद् आचार्य कहकर उनकी कारिका उद्धृत करते हैं ।[2] शङ्कर के शिष्य सुरेश्वराचार्य भी उन्हें 'पूज्य गौड' कहकर उनका सम्प्रदायाचार्य के रूप में स्मरण करते हैं ।[3]

अद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य शङ्कर हैं । इन्हें अद्वैत वेदान्त का पर्याय माना जाय तो अत्युक्ति न होगी । कहा जाता है कि जिस समय वैदिक धर्म वेद विरोधी साम्प्रदायिक तत्त्वों से आक्रान्त हो गया, वैदिक मर्यादा छिन्न-भिन्न होने

---

1. यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि - माण्डूक्यकारिका भाष्य

2. वेदान्तसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः । शारीरक भाष्य 2/1/9.

3. एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः । नैष्कर्म्यसिद्धि 4/44.

लगी, उस समय देवी, देवगण तथा मनुष्यों ने धर्म संस्थापनार्थ त्रिशूलपाणि भगवान् शङ्कर की हार्दिक आराधना की । उन सबको सान्त्वना देकर आशुतोष भगवान् शङ्कर दक्षिण भारत के केरल प्रान्त के कालडी ग्राम में आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में एक वेदज्ञ ब्राह्मण-शिवगुरू और विशिष्टा के यहाँ शङ्कर नाम से आविर्भूत हुए । यही शङ्कर आगे चलकर शङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए ।[1]

'द्वयोर्भाव: द्विता, द्वितैव, द्वैतम्, न द्वैतम् इति अद्वैतम्' इस प्रकार द्वैत के अभाव अर्थात् ब्रह्म और जीव के द्वैत के अभाव को ही अद्वैत कहा जाता है । दो से भिन्न अर्थात् 'एक' को 'अद्वैत' नहीं कहा जा सकता । यदि 'अद्वैत का अर्थ 'एक' करेंगे तो 'अद्वैत' सिद्धान्त ही खण्डित होगा और अद्वितीय तत्त्व ब्रह्म संख्या में बँधे जायेगा, जो अनिष्ट होगा ।

आचार्य शङ्कर का सुप्रसिद्ध अद्वैतवादी सिद्धान्त है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है, इससे भिन्न नहीं ।[2] ब्रह्म और आत्मा अभिन्न है, दोनों परमतत्त्व के पर्याय हैं । जगत् माया की प्रतीति है । जीव और जगत् दोनों मायाकृत हैं । जिस प्रकार रज्जु, भ्रम में सर्प के रूप में प्रतीत होती है और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर सर्प का बाध हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म, अविद्या या माया के कारण जीव जगत् प्रपञ्चरूप में प्रतीत होता है और निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव जगत् प्रपञ्च की अपरोक्षानुभूति द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव जगत् प्रपञ्च का बाध हो जाता है । यही मोक्ष या आत्मज्ञान का स्वरूप है ।

---

1. दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले । स एव शङ्कराचार्य:साक्षात् कैवल्य नायक: ॥

2. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर: । शङ्करकृत ब्रह्मज्ञानावलीमाला ।

शङ्कर के अनुसार माया 'सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीय है । माया को ही, अविद्या अध्यारोप, अध्यास, अज्ञान, भ्रम आदि रूप में व्याख्यायित किया गया है। अध्यास का अर्थ है अधिष्ठान में स्मृतिरूपात्मक पूर्वानुभूत वस्तुओं की मिथ्याप्रतीति।[1] इस प्रकार माया या अध्यास मिथ्याप्रतीति है, मिथ्याज्ञान है । आचार्य शङ्कर इस लोकव्यवहार को मिथ्या ही मानते हैं ।[2] यह मिथ्यात्व पारमार्थिक दृष्टि से ही है। व्यावहारिक दृष्टि से तो समस्त प्रपञ्च को सत् माना है शङ्कर ने । यहाँ तक कि प्रतिभास को भी व्यवहार में सत् ही माना है ।

अद्वैत वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य किया गया है । यह औपनिषदिक ऋषियों की महान् देन है ।[3] विषयी और विषय प्रमाता और प्रमेय दोनों में एक ही तत्त्व प्रकाशित हो रहा है जो दोनों में अन्तर्यामी है । जीव में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है वही ब्रह्मरूप से इस समस्त बाह्य जगत् में भी व्याप्त है । अखण्डचिदानन्द रूप परमतत्त्व को आत्मा तथा ब्रह्म कहते हैं । आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि से भिन्न है । वह शुद्ध चैतन्य है । समस्त ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान है । वह स्वतः सिद्ध है । उसका निराकरण संभव नहीं है

----

1. अध्यासोनाम स्मृतिरूपः परत्रपूर्वदृष्टावभासः - ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, उपोद्धात् ।

2. विषयिणिचिदात्मके विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, विषयिणस्तद्धर्माणां च विषये अध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् । - वही ।

3. अयमात्माब्रह्म सर्वानुभूः । माण्डूक्योपनिषद् ।

क्योंकि जो निराकर्ता है, वही इसका स्वरूप है ।[1] शुद्ध आत्म चैतन्य अविद्या के कारण शरीर, इन्द्रिय, अन्त:करण से परिच्छिन्न होकर जीव के रूप में प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है कि ब्रह्म इस जगत् की उत्पत्ति - स्थिति तथा लय का कारण है ।[2] शङ्कर के अनुसार यह तैत्तिरीय उपनिषद् पर आधारित लक्षण है ।[3] इस प्रकार ब्रह्म इस जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण दोनों है । शङ्कर के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त[4] है । इससे कोई वास्तविक परिवर्तन संभव नहीं । जगत् ब्रह्म की प्रतीति मात्र है । यह प्रतीति अविद्या के कारण है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' आदि श्रुतियाँ ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान कराती हैं कि ब्रह्म सत्य है, ज्ञान स्वरूप है, अनन्त है और आनन्द रूप है । वह निर्गुण, निराकार और अनिर्वचनीय है । 'नेतिनेति'[5] से ब्रह्म का अतीन्द्रियत्व, निर्विकल्पत्व, निर्गुणत्व अनिर्वचनत्व विवक्षित है ।

शङ्कर ने सोपाधिक ब्रह्म को सगुणब्रह्म या ईश्वर कहा है । माया से उपहित चैतन्य ईश्वर कहलाता है । शङ्कराचार्य के अनुसार 'य: सर्वज्ञ: सर्ववित्' इत्यादि श्रुति

----

1. य एव हि निराकर्ता, तदेव तस्य स्वरूपम् - शारीरक भाष्य 2,3,7.

2. जन्माद्यस्य यत: । ब्रह्मसूत्र, 1/1/2.

3. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति । तैत्तिरीयोपनिषद् 3/1.

4. अतत्त्वततोऽन्यथाप्रथा विवर्तइत्युदीरित: ।

5. अथात आदेशोनेति नेति । बृहदारण्यकोपनिषद् ।

वाक्यों से ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, आदि सिद्ध होती हैं न कि तर्क या अनुमान द्वारा ।[1] जिस प्रकार ईश्वर वस्तुत: ब्रह्म ही है, उसी प्रकार जीव भी वस्तुत: ब्रह्म हैं । अविद्या के कारण ही ईश्वर तथा जीव की प्रतीति भिन्न भिन्न होती है । अविद्या के नष्ट होते ही द्वैत का निरास हो जाता है और अद्वैत की ज्ञान होने लगता है ।[2] ब्रह्मभाव ही मोक्ष है ।[3] ब्रह्म की मोक्ष स्वरूपता । ब्रह्मरूप पारमार्थिक के विषय में शङ्कराचार्य कहते हैं कि मोक्ष कूटस्थनित्य व्योमवत्सर्वव्यापी, सर्वविकार-रहित, नित्यतृप्त, निरवयव, स्वयं ज्योति: स्वभाव है ।[4] ब्रह्म को जान लेने वाला ब्रह्म ही होजाता है ।[5] शङ्कर के अनुसार मोक्ष प्रतिबन्ध रूप अविद्या की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल ﴾मोक्ष﴿ है ।[6] मोक्ष या ब्रह्म हेय या उपादेयरहित है । मोक्ष में न, कुछ खोना है न कुछ पाना ।[7] मोक्ष तो सदा प्राप्त है ।

----

1. शारीरकभाष्य 1/1/2.

2. ज्ञाते द्वैतं न विद्यते । माण्डूक्यकारिका

3. ब्रह्मभावश्च मोक्ष: । शारीरकभाष्य 1/1/4,

4. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थ नित्यं, व्योमपत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितम् नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयं ज्योति: स्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण, कारणत्रयं च नोपावर्तेते तदेतदशरीत्वम् मोक्षाख्यम् । वही, 1/1/4/4.

5. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति । मु0 3/2/9.

6. हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमात् । वही ।

7. मोक्षप्रतिवन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम् । वही ।

शङ्कर ने ज्ञान के साथ साथ कर्म और उपासना को भी मोक्ष के लिए आवश्यक बताया है । कर्म और उपासना से चित्त शुद्ध होता है और एकाग्र भी जिससे चित्त ज्ञान की ज्योति ग्रहण करने में समर्थ हो पाता है । यद्यपि ज्ञान-कर्म, उपासना परस्पर विरुद्ध हैं फिर भी उपासना कर्म तो लोकसंग्रह के लिए हो ही सकते हैं ।

शङ्कर ने सांख्य के प्रकृति परिणामवाद, वैशेषिकों के परमाणुकारणवाद, न्याय के ईश्वर की केवल निमित्त कारणता, भागवत सम्प्रदाय के ईश्वर व्यूहवाद, बौद्ध-सर्वास्ति-वाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि का खण्डन किया है ।

शङ्करोत्तर वेदान्तियों ने भी न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ शङ्कराचार्य प्रतिपादित अद्वैत को मानते हैं । सभी अद्वैती माया या अविद्या को सदसद्भ्यां अनिर्वचनीय, ज्ञाननिरस्या आदि विशेषणों से युक्त मानते हैं । कुछ पश्चवर्ती अद्वैती अविद्या तथा माया में भेद करते हैं । वे माया को सत्त्व शुद्धि से युक्त तथा अविद्या को सत्त्व अविशुद्धि से युक्त मानते हैं ।[1] वे मायोपहित चैतन्य को ईश्वर तथा अविद्योपहित चैतन्य को जीव मानते हैं ।

शङ्करोत्तर अद्वैतियों ने ईश्वर और जीव के विषय में प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेद-वाद तथा आभासवाद की अवधारणा की है । एक सूर्य या चन्द्र का जलाशयों में या विविध जलपात्रों में प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बवाद का उदाहरण है । महाकाशों और

----

1. सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च द्वे मते । पंचदशी

घटाकाशों का दृष्टान्त अवच्छेदवाद का उदाहरण है । रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, जल और तरंगें आभासवाद का दृष्टान्त हैं । ब्रह्म का माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अविद्या या अन्त:करण में प्रतिबिम्ब जीव है । मायावच्छिन्न ब्रह्म ईश्वर है तथा अविद्या या अन्त:करणावच्छिन्न ब्रह्म जीव है । ब्रह्म का माया में आभास ईश्वर है और अविद्या या अन्त: करण में आभास जीव है । यद्यपि परमार्थ में सब ब्रह्म ही है । मण्डन मिश्र शङ्कर के समकालीन अद्वैती आचार्य थे ।

शङ्कर के बाद के अद्वैत के आचार्यों में शङ्कर के दो शिष्य सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, विमुक्तात्मा, प्रकाशात्मयति, श्रीहर्ष, आनन्दबोध, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, स्वामी विद्यारण्य, प्रकाशानन्द, यति, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती, नृसिंह आश्रम सरस्वती, अप्पयदीक्षिति, धर्मराजाध्वरीन्द्र और सदानन्दयोगीन्द्र आदि प्रमुख हैं । वाचस्पति मिश्र ने शारीरक भाष्य पर 'भामती' नामक विश्रुतटीका लिखी । पद्मपादाचार्य ने चतु:सूत्री पर प्रकाशात्मपति की विवरण टीका है । सुरेश्वराचार्य ने शङ्कर के बृहदारण्यक भाष्य पर तथा तैत्तिरीय भाष्य पर 'वार्तिक' लिखे । नैष्कर्म्यसिद्धि, उनका प्रसिद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ है । श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थ लिखा । इस प्रकार अद्वैतदर्शन की एक समृद्ध आचार्य परम्परा है ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त

'द्वयोर्भाव: द्विता, द्विता एव द्वैतम्, न द्वैतम् इति अद्वैतम् , विशिष्टं च विशिष्टं च इति विशिष्टे, विशिष्टयो: अद्वैतम् इति विशिष्टाद्वैतम्' किं तावत्

विशिष्टत्वम् ? सूक्ष्म चिदचित् विशिष्टं कारणब्रह्म, स्थूल चिदचित् विशिष्टं कार्य-ब्रह्म तयोरद्वैतमेव विशिष्टाद्वैतम् । सूक्ष्मत्वं नाम नामरूपविभागानर्हत्वम् । स्थूलन्तु नामरूप विभागार्हत्वम्'— इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं । सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट कारण ब्रह्म तथा स्थूलचिदचित्विशिष्ट कार्यब्रह्म के अद्वैत को । नामरूप और विभाग से रहित को 'सूक्ष्म' कहते हैं तथा 'नाम', रूप और विभाग से युक्त को स्थूल कहते हैं । इस प्रकार सूक्ष्मचिदचिद विशिष्ट कारण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर तथा स्थूल चिदचिद्विशिष्ट कार्यब्रह्म अर्थात् 'जीव' के अद्वैत को 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं ।

रामानुज चित्, अचित् और ईश्वर इन तीनों तत्त्वों को मानते हैं । चित्, चेतन भोक्ता है अचित् जड़ प्रकृति या जगत् है । ईश्वर इन दोनों का अन्तर्यामी है । चित् और अचित् दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं किन्तु ईश्वर पर आश्रित । दोनों ईश्वर के शरीर या अङ्ग हैं, ईश्वर उनका अन्तर्यामी आत्मा है ।[1] इन तीनों तत्त्वों में अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध है ।

विशिष्टाद्वैत दर्शन का व्यवस्थित इतिहास नाथमुनि[2] से प्रारम्भ होता है ।

---

1. सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यां धार्य तच्छेषतैकस्वरूपं इति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरं - श्रीभाष्य 2/1/9.

2. देखिए अध्याय 7.

इसके बाद यामुनाचार्य[1] विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापक आचार्य हुए, वे नाथमुनि के पौत्र थे। यामुनाचार्य के बाद रामानुज मुख्य प्रस्तोता हुए। उन्होंने विशिष्टाद्वैत को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। आज 'विशिष्टाद्वैत' 'रामानुज वेदान्त' का पर्याय माना जाता है। रामानुज का जन्म 1017 ई० तथा परमपद 1137 ई० में हुआ। उन्होंने 120 वर्षों का दीर्घ जीवन व्यतीत किया। प्रारम्भ में उन्होंने यादव प्रकाश से शिक्षा ली किन्तु कुछ समय बाद मतभेद हो जाने से उनसे अलग हो गए। अपने मामा महापूर्ण (पेरियनम्बि) के प्रभाव के कारण रामानुज यामुनाचार्य के प्रति आकृष्ट हुए जो उन्हें अपने बाद श्रीरङ्गम की गद्दी पर बैठाना चाहते थे किन्तु रामानुज के श्रीरंगम् पहुँचने के पूर्व ही यामुन वैकुण्ठवासी हो चुके थे। परम्परानुसार रामानुज ने यामुनाचार्य के दाहिने हाथ की तीन अंगुलियाँ मुड़ी हुई देखीं जिनसे यामुनाचार्य की तीन अपूर्ण इच्छाओं का संकेत मिलता है। इनमें प्रमुख अपूर्ण इच्छा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की थी जिसे रामानुज ने 'श्रीभाष्य' लिखकर पूर्ण किया। रामानुज श्रीसम्प्रदाय में महापूर्ण द्वारा दीक्षित हुए तथा 'यतीन्द्र' या 'यतिराज' कहलाए। यामुन के बाद श्रीरंगम् की गद्दी पर बैठे। उन्होंने श्रीभाष्य के अतिरिक्त गीताभाष्य, वेदान्तसार, वेदान्तदीप, गद्यत्रय और वेदार्थसंग्रह जैसे विशिष्टाद्वैतपरक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में स्वीकार किया है कि वे बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दी और भारुचि जैसे प्राचीन आचार्यों की विशिष्टाद्वैतपरम्परा का अनुसरण कर रहे हैं। इस प्रकार रामानुज पर आलवारों[2] नाथमुनि, यामुन, यादव, प्रकाश,

---

1. देखिए, अध्याय 8.
2. देखिए अध्याय 6.

भास्कर, बोधायन, द्रविड, भर्तृप्रप च, आश्मरथ्य और औडुलोमिका प्रभाव पड़ा है । किन्तु वे सर्वाधिक ऋणी यामुन, यादव और भास्कर के हैं ।

भास्कराचार्य भेदाभेदवादी हैं । वे ब्रह्म और जीव का अभेद स्वाभाविक तथा भेद औपाधिक मानते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म कारण रूप में एक और अभिन्न हैं किन्तु कार्यरूप अनेकता का प्रतीक है ।[1] जगत् ब्रह्म का तात्त्विक परिवर्तन है । जड़तत्व सत् है, अविद्या जन्य नहीं । जीव अणुरूप है । रामानुज ने वेदार्थसंग्रह में भास्कर के मत को संक्षेप में बताया है ।[2]

रामानुज ने भास्कर के मत का खण्डन किया है । रामानुज के अनुसार भेद तथा अभेद दोनों समान रूप से सत्य नहीं हो सकते और न उनको एक ब्रह्म के दो पृथक् धर्म माना जा सकता है । रामानुज भेदाभेद को नहीं मानते, वे विशिष्टाद्वैत को मानते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म निर्गुण, निराकार नहीं वरन् 'चिदचिद्विशिष्ट' है । ब्रह्म स्वयं में परम विशुद्ध है केवल ब्रह्म का चिदचिद्रूप ही परिवर्तित होता है । अतः यह कहना कि ब्रह्म स्वयं संसार दुःख भोगता है और मुक्त होता है, हास्यास्पद है ।

यादव प्रकाश भास्कर से किञ्चित् भिन्न रूप में ब्रह्म और चेतन् का अभेद और भेद दोनों ही स्वाभाविक मानते हैं । वे ब्रह्मपरिणामवाद एवं ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद के

---

1. ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य 1/1/4.

2. 'अपरे तु अपहतपाप्मत्वादिसमस्तकल्याणगुणोपेतमपि ब्रह्म तेनैवैक्यावबोधेन केचिदुपाधि-विशेषेण सम्बद्धं बध्यते मुच्यते च, नानाविधरूपपरिणामास्पदं च इति व्यवस्थिता: ।

— वेदार्थसंग्रह

पोषक हैं । भास्कर के विपरीत[1] उपाधि की सत्यता को नहीं मानते । यादव प्रकाश के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर तीनों ब्रह्म के परिणाम हैं । यादव के मत को भी रामानुज ने अपने 'वेदार्थसंग्रह' में पूर्वपक्ष के रूप में दिया है ।[1] रामानुज ने यादव के ब्रह्म और ईश्वर में भेद का खण्डन किया है । उनके अनुसार ब्रह्म और ईश्वर एक ही है और दोनों में से कोई भी निराकार या भेदरहित नहीं है । चिद्, अचित् ब्रह्म के साधारण धर्म नहीं है अपितु ब्रह्म के विग्रह हैं तथा उससे अपृथक् सिद्ध हैं ।

रामानुज चिद् तथा अचित् से विशिष्ट ईश्वर की सत्ता मानते हैं । चित् चेतन भोक्ता जीव है तथा अचित् जड-प्रकृति या भोग्य जगत् है । ईश्वर दोनों का अन्तर्यामी है क्योंकि श्रुतियाँ भी इस बात की पुष्टि करती हैं ।[2] चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का उप-निषदों में व्याख्यान उपलब्ध होता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् का कथन है कि अज, सर्वज्ञ, ईश्वर, अज अल्पज्ञ भोक्ता जीव और अजा भोग्या प्रकृति ये तीनों ब्रह्म हैं[3] ।और यही जानने योग्य है कि भोक्ता जीव, भोग्या प्रकृति और प्रेरयिता ईश्वर् ये तीनों ब्रह्म हैं ।[4] रामानुज के अनुसार सगुण, सविशेष ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है । यही

----

1. अन्ये पुनरैक्यावबोधयाथात्म्यं वर्णयन्त: स्वाभाविक निरतिशयापरिमितोदारगुणसागरं ब्रह्मैव सुरनरतिर्यक्स्थावरनारकिस्वर्ग्यपवर्गि चेतनैक्यस्वभावं स्वभावतो विलक्षणमविलक्षणं वियदादिनानाविधमलरूपपरिणामास्पदं च इति प्रत्यवतिष्ठन्ते ।

   – वेदार्थसंग्रह, यादवमतसंक्षेप ।

2. य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा नवेद यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत: ।

3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/9.   4. त्रितयं ब्रह्म एतत् , वही 1/12.

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है । यह जगत् का अभिन्न निमित्तो-पादान कारण है । चित् या जीव तथा अचित् या जड़ तत्त्व दोनों नित्यपदार्थ होने से उत्पादविनाशरहित है । अत: सृष्टि का तात्पर्य इनके स्थूल रूप धारण करने से है । प्रलय काल में चिदचित् अपनी सूक्ष्मावस्था में रहते हैं । यह ब्रह्म की कारणावस्थास्था है सृष्टि के समय चिदचित् स्थूल रूप धारण करते हैं, यह ब्रह्म की कार्यावस्था है । रामानुज ब्रह्म को सजातीय विजातीय भेदशून्य मानते हैं किन्तु स्वगतभेद स्वीकार करते हैं । सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कारण है तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कार्य । ब्रह्म ही अवस्था भेद से कारण तथा कार्य दोनों रूपों में जगत् का उपादान है । सृष्टि ईश्वर के संकल्प से होती है । अत: सृष्टि लीलामात्र है । सृष्टि सत्य है क्योंकि यह ब्रह्म का कार्य है ।

ईश्वर 'सकल' हेय प्रत्यनीकत्वकल्याणगुणाकरत्व इत्यादि विशेषणों से युक्त है अत: वह सगुण है । वेदार्थसंग्रह के मंगलाचरण में रामानुज ने ईश्वर को चिदचिद्विशिष्ट, शेषी, शुद्ध, अनन्तकल्याणगुणोपेत आदि मानकर उसकी वन्दना की है और भगवान् विष्णु को ही 'ब्रह्म' माना है ।[1] श्रुतियाँ भी कहती हैं कि पापरहित सर्वभूतों के अन्तरात्मा दिव्यदेव एक ही नारायण है ।[2] रामानुज कहते हैं कि ईश्वर एक है किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वे पा च रूपों में प्रकट होते हैं - अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव,

----

1. अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने ।
   निर्मलानन्तकल्याणनिधये विष्णवे नम:।। - वेदार्थसंग्रह, मंगलाचरण ।.

2. एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्योदेव: एको नारायण: ।

और अर्चावतार । अन्तर्यामी रूप ऊपर बताया गया । 'पर' भी बताया गया कि वे परात्पर नारायण वासुदेव हैं । उनका व्यूह रूप चार है - वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध । उनका चतुर्थ रूप 'विभव' या अवतार है, जो, वासुदेव कृष्ण आदि के रूप में हुआ है । अर्चावतार उनका पाँचवाँ रूप है जिसमें वे भक्तों पर असीम अनुकम्पा के कारण श्रीरंगम आदि प्रसिद्ध मन्दिरों की मूर्तियों के रूप में प्रकट होते हैं । रामानुज के ये विचार भागवत मत से लिए गये हैं ।

रामानुज चित् या जीवात्मा के तीन रूप मानते हैं - प्रथम, नित्यमुक्त जीव है जो अविद्यादि कर्मो और प्रकृति से कभी बद्ध नहीं होता और बैकुण्ठ में सदा निवास करता हुआ भगवत् सेवा में रत रहता है । ये शेष, गुरूड और विश्वक् सेनादि हैं । द्वितीय, मुक्तजीव हैं जो बन्धन से मुक्त हो चुके हैं । तृतीय, बद्ध जीव हैं जो अविद्यादि क्लेश कर्मों के कारण जन्म-मरण रूपी संसार चक्र में घूम रहे हैं ।

बन्धन और मोक्ष के विषय में रामानुज का मत है कि ये दोनों वास्तविक हैं । मोक्ष के लिये जीव को इस कर्म-मल को सर्वथा नष्ट करना आवश्यक है । भक्ति से भगवत्कृपा रूप मोक्ष प्राप्त होता है । रामानुज पर ज्ञान और परा भक्ति को एक ही मानते हैं ।[1] यही 'भक्ति' ही मोक्ष का कारण है । रामानुज भक्ति को एक प्रकार की प्रीति तथा प्रीति को ज्ञान ही मानते हैं ।[2] इसलिए भक्ति और ज्ञान में विरोध नहीं है । ज्ञान से चित्, अचित् और ईश्वर प्रकाशित होते हैं । कर्म से चित्त शुद्ध होता है ।

---

1. भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा । श्रीभाष्य, मंगलाचरण ।

2. भक्तिशब्दश्चप्रीतिविशेषे वर्तते । प्रीतिश्च ज्ञान विशेष एव ।
- वेदार्थसंग्रह, पृष्ठ 344.

भक्ति की ज्ञान कर्मपरकता[1] के कारण प्राकृतजन उसे नहीं कर सकते इसलिए सर्वजन सुलभ भगवत्प्राप्ति हेतु उपाय के रूप में रामानुज 'प्रपत्ति' या शरणागति का उल्लेख करते हैं। रामानुज कहते हैं कि प्रपत्ति के अलावा किसी भी तरह से मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं हैं।[2] यह प्रपत्ति भी भक्ति का एक अङ्ग ही है और भक्ति के लिए भी इसकी आवश्यकता पड़ती है, यद्यपि यह भगवत्प्राप्ति का स्वतंत्रोपाय भी है।[3] रामानुज ने प्रपत्ति के साथ ध्रुवानुस्मृति को भी भक्ति के अंग के रूप में जोड़ दिया।[4] इस प्रकार भक्ति से भगवत्प्राप्ति ही मोक्ष है।

विशिष्टाद्वैत में मोक्ष की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। पहली सालोक्य, अर्थात् ब्रह्म का सतत दर्शन करते रहना। दूसरी, सामीप्य अर्थात् परमात्मा के बिल्कुल समीप रहकर तज्जन्य सुख की अनुभूति करना। तीसरी सारूप्य अर्थात् भगवान् के समान रूपधारण करना और अन्तिम है सायुज्य जिसके अन्तर्गत मुक्तात्मा परमात्मा के सारे भोगों का उपभोग करता है।[5] यह मोक्ष की चरमावस्था है।

---

1. ज्ञान कर्मानुगृहीतं भक्तियोगम्। गीताभाष्य, प्रथम अध्याय की भूमिका।
2. एतेषां संसार-मोचनं भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण। वेदार्थ संग्रह - पृष्ठ 166.
3. भक्तियोगनिष्ठस्यापि तन्निष्पत्यर्थं तदङ्गत्वेन प्रपत्तेरपेक्षितत्त्वात्, प्रपत्तिनिष्ठस्य स्वतंत्रतया उपायत्वाच्च प्रपत्तिमन्तरेण नोपपद्यते। - वही, पृष्ठ 163.
4. साक्षात्कार रूपा ध्रुवा स्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते - श्रीभाष्य
5. लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित्, समीपमिच्छन्ति च केचिदन्ये।
   अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते, सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः॥
   - भाष्यार्थ दर्पण, पृष्ठ 5 72 पर उद्धृत।

रामानुज को यही चौथी अवस्था मोक्ष की ﴾सायुज्य﴿ स्वीकार है ।

रामानुज 'विदेह मुक्ति' मानते हैं । उनके अनुसार 'तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्ये, अथ सम्पत्स्ये[1] ﴾अर्थात् उसकी मुक्ति में तब तक विलम्ब है जब तक देह से छुटकारा नहीं होता﴿ इत्यादि श्रुतियाँ देहपात के अनन्तर ही मोक्ष का विधान करती हैं । वे शङ्कर के जीवन्मुक्ति का खण्डन करते हैं । वे कहते हैं कि यदि शरीर से विशिष्ट ही जीवन्मुक्ति मानी जाय तो यह मान्यता निश्चित ही 'मेरी माता बन्ध्या है' के सदृश अप्रमाण एवं असंगत होगी ।[2] आत्मा के शरीरी होने पर उसका मुक्ति से वैशिष्ट्य और मुक्ति से विशिष्ट होने पर उसका शरीर से वैशिष्ट्य परस्पर विरोधी हैं । एक ही काल में एक आत्मा में परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रयण सम्भव नहीं । यही नहीं, आत्मा के बन्धन रूप सशरीरत्व और मोक्ष का स्वरूप अशरीरत्व अद्वैत मत में भी मान्य है ।[3] अतः शरीरी आत्मा का मोक्ष अशरीरी कैसे हो सकता है ? आपस्तम्ब का उदाहरण देते हुए रामानुज अपने मत को पुष्ट करते हैं जिसके अनुसार केवल आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति को शास्त्रविरुद्ध कहा गया है, और कहा गया है कि यदि ज्ञान मात्र से शरीर में ही मोक्ष प्राप्त हो सकता तो वाक्यार्थ ज्ञानियों को दुःख नहीं होता किन्तु चूँकि दुःखराहित्य नहीं देखा जाता।अतएव सिद्ध है कि इस शरीर में मोक्ष नहीं होता ।

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 5/24/3.

2. श्रीभाष्य 1/1/4.

3. तदेतद् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम् । शारीरक भाष्य, 1/4/4.

रामानुज माया को ईश्वर की सत् शक्ति कहते हैं जिससे वे इस सत् सृष्टि का निर्माण करते हैं । उनके अनुसार अविद्या जीव का अज्ञान है जिसके कारण वह शरीर, इन्द्रिय, अन्त:करण जैसी प्राकृत वस्तुओं को अपना स्वरूप समझने लगता है । रामानुज शङ्कर के 'मायावाद' का प्रबल खण्डन करते हैं और उसमें 'सात् दोष' बताते हैं जिसे 'सप्तविध अनुपपत्ति' कहते हैं । यह सप्तविध अनुपपत्ति हैं - आश्रयानुपपत्ति, तिरोधानानुपत्ति, स्वरूपानुपत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति तथा निवृत्यनुपपत्ति ।

रामानुज के बाद उनके अनुयायियों ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों को आगे बढ़ाया। इनमें सर्वप्रथम तथा मूर्धन्य हैं — 'वेंकटनाथ या वेदान्त देशिक'। इन्होंने अपनी 'शतदूषणी' में अद्वैतवेदान्तके 100 दोषों को बताया है जिनमें 66 ही प्राप्त होते हैं । 'शतदूषणी' में विवादों की संख्या पर मतभेद है । इसे डॉ० एस०एन० दास गुप्त ने अपनी पुस्तक में उल्लिखित किया है ।[1] वेदान्तदेशिक ने 'न्यायसिद्धाञ्जन में 'विशिष्टाद्वैत' के सिद्धान्तों को विस्तार से व्याख्यायित किया है । इसके अतिरिक्त 'यादवाभ्युदय' 'हंस संदेश', 'सुभाषितनीवि' तथा 'संकल्प सूर्योदय' नामक ग्रन्थ लिखे । 'यादवाभ्युदय' श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं जिस पर अप्पयदीक्षित ने टीका लिखी है । 'संकल्पसूर्योदय' 10 अंकों का प्रतीक नाटक है ।

---

1. डॉ० एस०एन० दास गुप्त - भारतीय दर्शन का इतिहास - 3, पृष्ठ 243-44.

वेदान्तदेशिक ने 'न्यायपरक विशिष्टाद्वैती ग्रन्थ' 'न्यायपरिशुद्धि' लिखा। उन्होंने श्रीभाष्य पर 'तत्त्वटीका' लिखी। यामुन के गीतार्थ संग्रह पर 'गीतार्थसंग्रह रक्षा', रामानुज के गीतारहस्य पर तात्पर्यचन्द्रिका' यामुन के 'चतुश्लोकी' स्तोत्र रत्न' पर 'रहस्य रक्षा' आदि कृतियाँ भी वेंकटनाथ की मेधा को पुष्ट करती हैं। उनका एक निबन्ध 'वादित्रयखण्डन' मिला है जिसमें उन्होंने 'भास्कर, यादव और शङ्कर के मतों का खण्डन किया है। मीमांसा पर उनके 'मीमांसा पादुका' और 'सेश्वरमीमांसा' नाम के ग्रन्थ 'शबरस्वामी से भिन्न व्याख्या करते हैं। वेंकटनाथ ने मणिप्रवाल शैली में 32 ग्रन्थ लिखे हैं।[1] वेंकटनाथ के पुत्र, कुमारवेदान्ताचार्य वरदार्य या देशिकाचार्य ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'तत्त्वत्रय चुलुक संग्रह' प्रमुख हैं जिसमें वे 'तत्त्वत्रय' का वर्णन करते हैं। इसके अतिरिक्त, 'प्रपत्तिकारिका' फलभेदखण्डन, 'चरमगुरूनिर्णय', 'आराधना संग्रह', 'अधिग्रहण चिन्तामणि', 'रहस्यत्रय' सारांश संग्रह आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

इसके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैतिक आचार्यों में 'मेघनादारि' रामानुजदास या महाचार्य', रङ्गरामानुजमुनि', 'परकालयति' या 'कुम्भकोनम ताताचार्य' 'श्रीनिवासदास', 'श्रीनिवासाचार्य (यतीन्द्रमतिदीपिका के लेखक), श्रीशैलनिवास ताताचार्य, सुदर्शनसूरि (श्रुतप्रकाशिका के लेखक), आहोवलि रङ्गनाथयति, दोड्डयाचार्य, नारायणमुनि, नृसिंहराज, नृसिङ्हसूरि, वस्तुवेदान्ताचार्य, पुरुषोत्तम, पेलपुरदेशिक (तत्त्वभाष्कर के लेखक), रंगराजरामानुजदास भिक्षु, आत्रेयवरद, वाधूलवरद, वीर -

---

1. द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन का इतिहास-3, पृष्ठ 101.

राघवदास, वेंकट सुधी ।सिद्धान्त रत्नावली। वेंकटदास, वेंकटाध्वरि, धर्मकुरेश, नीलमेघ तातार्चाय, रघुनाथाचार्य, राघवाचार्य, अण्णयार्य आदि वैष्णव वेदान्तियों ने अपने अपने साहित्य से विशिष्टाद्वैत वेदान्त को समृद्ध बनाया ।

16वीं शदी के अप्पयदीक्षित ने रामानुज सम्मत ब्रह्मसूत्र की टीका की जो 'न्यायमुखमालिका' कहलाती है । 19वीं शताब्दी के अनन्ताचार्य ने अनेक ग्रन्थों की रचना की ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त अत्यन्त व्य ावहारिक तथा आचार्य परम्परा अत्यन्त समृद्ध है इसीलिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का इतना विकास हुआ और वह अद्वैतवेदान्त के मुख य समालोचक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आज भी अविचल खड़ा है ।

<u>द्वैत वेदान्त</u>

द्वैतवेदान्त के प्रतिपादक आचार्य मध्व हैं । इनको 'पूर्णप्रज्ञ' तथा आनन्द-तीर्थ भी कहा जाता है । इनका जीवनचरित श्रीनारायणरचित 'मध्वाचार्य विजय' और 'मणिमञ्जरी' में वर्णित है । इनका जन्म 1197 ई0 तथा परमपद 1276 ई0 के लगभग माना जाता है । ये वायु के 'अवतार' भी माने जाते हैं । इन्होंने 37 ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' अनुव्याख्यान, गीताभाष य, कुछ उपनिषद् भाष्य, भागवततात्पर्य निर्णय, महाभारततात्पर्यनिर्णय, विष्णुतत्त्वनिर्णय तथा तत्त्वोद्योत' प्रसिद्ध हैं । जयतीर्थ ।14वीं शदी। और व्यासतीर्थ ।15वीं शदी। मध्वदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् दार्शनिक हैं । जयतीर्थ ने मध्वभाष्य पर 'तत्त्वप्रकाशिका' टीका और अनुव्याख्यान प

न्यायसुधा टीका तथा प्रमाणपद्धति नामक स्वतंत्रग्रन्थ लिखा । न्यासतीर्थ ने तत्त्वप्रकाशिका' पर तात्पर्यचन्द्रिका टीका लिखी । 'न्यायामृत' तथा तर्कताण्डव उनके मौलिक ग्रन्थ हैं । 'न्यायामृत' का खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में किया है । इसका उत्तर रामाचार्य ने अपनी न्यायामृत तरङ्गिणी टीका में दिया जिसका खण्डन ब्रह्मानन्द सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' पर अपनी 'अद्वैतचन्द्रिका' टीका में किया है ।

मध्वाचार्य आध्यात्मिक दृष्टि से उग्र द्वैतवादी हैं तथा धार्मिक दृष्टि से भक्तिवाद के समर्थक हैं । वे शङ्कर के अद्वैतदर्शन के परमशत्रु हैं । अद्वैतवाद तथा मायावाद को वे बौद्ध- शून्यवाद का विकृत औपनिषदिक संस्करण मानते हैं । उनके अनुसार मायावादी का ब्रह्म और शून्यवादी का शून्य एक ही है ।[1] अद्वैतियों को वे 'मायिदानव' कहते हैं जो अज्ञानान्धकार में उछल कूद मचाते हैं और तर्कागमयुक्त द्वैतसूर्य के उदय होने पर भाग जाते हैं जिस प्रकार सर्वज्ञ संखचक्रयुक्त हरि के आने पर दानव भाग जाते हैं ।[2]

मध्व ने दो प्रकारकीअन्तिम सत्ताएँ मानी हैं स्वतंत्र और अस्वतंत्र । संभवत: इसीलिए उसे 'द्वैतवाद' कहते हैं । भगवान् विष्णु जिन्हें पुरुषोत्तम, परमात्मा या 'ब्रह्म' कहते हैं एकमात्र स्वतंत्र सत्ता है ।[3] उनके व्यतिरिक्त सब कुछ उनके अधीन है, अस्वतंत्र है । उनके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ भेद जुड़ा है और हर वस्तु

---

1. यच्छून्यवादिन: शून्यं तदेव ब्रह्म मायिन: । मध्वाचार्य ।
2. पलायध्वं पलायध्वं त्वरया मायिदानवा: ।
   सर्वज्ञो हरिरायाति तर्कागमदरारिभृत् ॥ तत्त्वोद्योत, पृष्ठ 245.
3. द्विविधं तत्त्वं स्वतंत्रास्वतंत्रभेदात् - स्वतंत्रोभगवान् विष्णु: । सर्वदर्शनसंग्रह, 5/1.

न्यायसुधा टीका तथा प्रमाणपद्धति नामक स्वतंत्रग्रन्थ लिखा । न्यायतीर्थ ने तत्त्वप्रकाशिका' पर तात्पर्यचन्द्रिका टीका लिखी । 'न्यायामृत' तथा तर्कताण्डव उनके मौलिक ग्रन्थ हैं । 'न्यायामृत' का खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में किया है । इसका उत्तर रामाचार्य ने अपनी न्यायामृत तरङ्गिणी टीका में दिया जिसका खण्डन ब्रह्मानन्द सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' पर अपनी 'अद्वैतचन्द्रिका' टीका में किया है ।

मध्वाचार्य आध्यात्मिक दृष्टि से उग्र द्वैतवादी हैं तथा धार्मिक दृष्टि से भक्तिवाद के समर्थक हैं । वे शङ्कर के अद्वैतदर्शन के परमशत्रु हैं । अद्वैतवाद तथा मायावाद को वे बौद्ध- शून्यवाद का विकृत औपनिषदिक संस्करण मानते हैं । उनके अनुसार मायावादी का ब्रह्म और शून्यवादी का शून्य एक ही है ।[1] अद्वैतियों को वे 'मायिदानव' कहते हैं जो अज्ञानान्धकार में उछल कूद मचाते हैं और तर्कागमयुक्त द्वैतसूर्य के उदय होने पर भाग जाते हैं जिस प्रकार सर्वज्ञ संखचक्रयुक्त हरि के आने पर दानव भाग जाते हैं ।[2]

मध्व ने दो प्रकारकीअन्तिम सत्ताएँ मानी हैं स्वतंत्र और अस्वतंत्र । संभवत: इसीलिए उसे 'द्वैतवाद' कहते हैं । भगवान् विष्णु जिन्हें पुरूषोत्तम, परमात्मा या 'ब्रह्म' कहते हैं एकमात्र स्वतंत्र सत्ता है ।[3] उनके व्यतिरिक्त सब कुछ उनके अधीन है, अस्वतंत्र है । उनके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ भेद जुड़ा है और हर वस्तु

---

1. यच्छून्यवादिन: शून्यं तदेव ब्रह्म मायिन: । मध्वाचार्य ।

2. पलायध्वं पलायध्वं त्वरया मायिदानवा: ।
सर्वज्ञो हरिरायाति तर्कागमदरारिभृत् ॥ तत्त्वोद्योत, पृष्ठ 245.

3. द्विविधं तत्त्वं स्वतंत्रास्वतंत्रभेदात् - स्वतंत्रोभगवान् विष्णु: । सर्वदर्शनसंग्रह, 5/1.

का रूप विलक्षण है ।[1] अतः इस दर्शन को द्वैतवाद की अपेक्षा 'भेदवाद' कहना उपयुक्त होगा ।

मध्व ने संसार में पाँच प्रकार के मूलभूत भेद स्वीकार किये हैं ।[2] ये भेद जीव और ईश्वर, जीव और भौतिक द्रव्य, भौतिक द्रव्य और ईश्वर, जीव और जीव तथा भौतिक द्रव्य और भौतिक द्रव्य के बीच हैं ।[3] भेद यथार्थ हैं भ्रामक नहीं क्योंकि उन्हें भगवान् जानते हैं, वे उसकी रक्षा भी करते हैं । वे सर्वज्ञ होने के कारण कभी भ्रम में नहीं पड़ते । भ्रम तो निश्चित ज्ञान की कमी के कारण होता है ।[4] यह भेद शाश्वत है । संसार अपने सभी भेदों के साथ यथार्थ और अनादि है ।[5] इन पंचविध भेदों का परिज्ञान मुक्ति में साधक है ।

भारतीय दर्शन के सभी अनुपंथी मतों के द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण माने गए हैं । उन्हें मध्व और उनके अनुयायी भी मानते हैं और ज्ञान के इन सभी साधनों की यथार्थता सिद्ध करते हैं । वे कहते हैं कि भेद अवश्य मानना चाहिए क्योंकि ज्ञान के सभी साधनों द्वारा वह जाना जाता है । वह प्रत्यक्षतः दिखायी देता है । जैसे नीला, पीला आदि रङ्ग ।[6]

---

1. प्रायः सर्वतो विलक्षणं पदार्थस्वरूपं दृश्यते । - विष्णुतत्त्वनिर्णय ।
2. प्रकृष्टः पंचविधो भेदः प्रपंचः । वही
3. सर्वदर्शन संग्रह, 5/22.
4. वही, 5/22.
5. वही, 5/22.
6. वही, 5/22.

हम अनुमान से ईश्वर और जीव में भेद समझते हैं क्योंकि वह जीवों का पूज्य है ।[1] शास्त्र में भी भेद का प्रतिपादन किया गया है । उदाहरणार्थ उसमें कहा गया है कि आत्मा सत् है, जीव सत् है और भेद भी सत् है ।[2] मध्व शास्त्रसम्मत ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करते हैं । 'अद्वैतं परमार्थत:' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अर्थ यह बताते हैं कि 'विष्णु' ही परम, पूर्ण और श्रेष्ठ सत्ता है, उसके समकक्ष अन्य किसी की सत्ता नहीं है । इस प्रकार वह अद्वैत है उसका जीव से भेद सिद्ध है ।[3] छान्दोग्य उपनिषद् के महावाक्य 'तत्त्वमसि' का मध्व के मतानुसार अर्थ भी यही है कि जीव और ब्रह्म में सादृश्य है । तत् किसी दूर, परोक्ष की वस्तु को इंगित करता है और त्वम् शब्द सम्मुख प्रत्यक्ष पुरुष का वाचक है अत: निष्कर्ष यह है कि दोनों का तादात्म्य अबुद्धिग्राह्य है ।[4] यही नहीं, जीव और ब्रह्म की भिन्नता को शास्त्र-प्रमाणित करने के लिए वे इस हद तक बढ़ जाते हैं कि 'तत्त्वमसि' वाक्य को बदलकर 'अतत्त्वमसि'[5] कर देते हैं जिससे पूरा अर्थ ही बदल गया है ।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत की भाँति मध्व के द्वैत दर्शन में भी विष्णु या ब्रह्म को स्वातंत्र्य, शक्ति, ज्ञान, आनन्द आदि अनन्तकल्याण-गुणसम्पन्न माना गया है ।[6] वह संसार का केवल निमित्तकारण है, उपादान कारण तो प्रकृति है ।

---

1. सर्वदर्शन संग्रह, 5/10.
2. वही, 5/17.
3. वही, 5/21-28.
4. वही, 5/28.
5. वही, 5/30.
6. वही, 5/34.

मध्व रामानुज की तरह जगत् को सत् मानते हैं तथा सृष्टि को ईश्वर की लीला मानते हैं। ईश्वर को 'सत्य संकल्प' कहते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर का कोई भी संकल्प मिथ्या नहीं हो सकता, अतः संकल्प रूप सृष्टि भी मिथ्या नहीं हो सकती।

लक्ष्मी भगवान् की शक्ति है, उनसे भिन्न है और केवल उन्हीं के अधीन है। परमात्मा के समान लक्ष्मी भी नित्यमुक्त और अप्राकृत देह सम्पन्न हैं किन्तु लक्ष्मी गुणों में भगवान् से न्यून हैं।

रामानुज के समान ही वे नित्य, मुक्त और बद्ध इन तीन प्रकार के जीवों को मानते हैं। नित्य जीव वे हैं जो लक्ष्मी की तरह सदा मुक्त हैं। दूसरे मुक्त जीव हैं जो बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं। देवता, ऋषि और दूसरे बन्धन से छुटकारा पाये जीव इस श्रेणी में आते हैं। तीसरे बद्ध जीव हैं जो सर्वदा बन्धन में ही रहते हैं। वे तीन प्रकार के हैं - नर्क में रहने वाले जीव 'तमोयोग्य' संसारचक्र में रहने वाले जीव 'नित्यसंसारी' तथा तीसरे मुक्तियोग्य जीव हैं जो ईश्वर कृपा से मुक्त हो सकते हैं।

मध्व भी 'विशिष्टाद्वैतवेदान्त' की तरह 'मुक्ति' के लिए 'भक्ति' को आवश्यक मानते हैं। भक्ति के विना मुक्ति संभव नहीं है। यह भक्ति ज्ञान रूपिणी है। मध्व के अनुसार भगवत्सान्निध्यया सारूप्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। मध्व के मोक्ष में एक विचित्र बात है कि मुक्त जीवों को भी दुःखभोग करना पड़ सकता है।[1]

---

1. इण्डियन फिलॉसफी, -2, पृष्ठ 698-699.

फिर भी मध्व शंकर की भाँति इतना तो मानते हैं कि जीव की मुक्ति शाश्वत होती है उसे पुनः सांसारिक जीवन नहीं धारण करना पड़ता । यद्यपि समग्रतः मध्व का द्वैतवाद रामानुज के विशिष्टाद्वैत से कुछ साम्य रखता है किन्तु शंकर के ब्रह्मवाद से वह बिल्कुल भिन्न है । यही इनका भेदवाद है ।

द्वैताद्वैत वेदान्त

'द्वैताद्वैत' को 'भेदाभेद' भी कहा जाता है । इस मत के अनुसार जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी । इस वैष्णव मत का 'सनकसम्प्रदाय' भी कहा जाता है तथा इसके प्रवर्तक निम्बार्काचार्य को सुदर्शनचक्र का अवतार माना जाता है । आचार्य निम्बार्क का प्रथम नाम नियमानन्द था और वे तैलङ्ग ब्राह्मण थे । भारतीय दर्शन में भेदाभेदवाद अत्यन्त प्राचीन है । बादरायण से भी पूर्व के आचार्यों में औडुलोमि और आश्मरथ्य तथा शंकरपूर्व के आचार्यों में भर्तृप्रप च तथा शंकरोत्तर आचार्यों में भास्कर तथा यादवप्रकाश प्रसिद्ध भेदाभेदवादी आचार्य हुए हैं । निम्बार्क ने इनके मत को पुनरुज्जीवित किया है । वे रामानुज से अत्यन्त प्रभावित हैं तथा उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है । कुछ विद्वान् मध्वमुखमर्दन को निम्बार्क की कृति मानते हैं । माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में निम्बार्क के मत का निरूपण नहीं किया है । इन आधारों पर निम्बार्क का समय 14वीं शती का मध्य या उसके आसपास माना जा सकता है ।

निम्बार्क की अन्य कृतियों में ब्रह्मसूत्र पर 'वेदान्तपारिजातसौरभम्' नामक लघुकाव्य, उस पर भाष्य, दशश्लोकी, श्रीकृष्णस्तवराज (25 श्लोक) प्रसिद्ध हैं । निम्बार्क के शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने निम्बार्क के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर 'वेदान्तकौस्तुभ'

नामक टीका लिखी है जिस पर केशवभट्टकाश्मीरी की 'कौस्तुभप्रभा' नामक विस्तृत टीका है । 'दशश्लोकी' पर पुरुषोत्तम की वेदान्त रत्नमञ्जूषा नामक टीका तथा कृष्णस्तवराज पर श्रुत्यन्तसुरद्रुम नामक व्याख्या है । माधव मुकुन्द का 'परपक्षगिरि-व्रज' या 'हार्दसंचय' नामक प्रसिद्ध खण्डनात्मक ग्रन्थ हैं ।

निम्बार्क श्रीराधाकृष्ण की माधुर्योपासना को दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम वैष्णव आचार्य हैं । उन्होंने श्रीराधा को 'परा श्री' या 'पराह्लादिनीशक्ति' के रूप में श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में प्रतिष्ठित किया है । प्रेम और त्याग का चरम उत्कर्ष गोपी भाव में है और गोपीभाव की पराकाष्ठा राधाभाव है। श्रीराधा श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में सानन्द विराजमान सखीसहस्र से सेवित तथा सर्वकामना पूरयित्री हैं ।[1]

निम्बार्क भी रामानुज की तरह चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों को मानते हैं और इनका स्वरूप भी रामानुज जैसा ही बताते हैं । चित् या जीव एक साथ ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञानाश्रय भी । शुद्ध चैतन्य जीव का स्वरूप भी है और ~~ज्ञाता-होने-के-कारण-जीव~~ ज्ञान का आश्रय भी है । द्रव्यात्मक और गुणात्मक ज्ञान में धर्मिधर्मभाव है । यह भेदाभेद रूप है । ज्ञानाकारतया दोनों अभिन्न हैं, धर्मिधर्मी भाव से दोनों भिन्न भी हैं, जैसे सूर्य एक साथ प्रकाशमय भी है और प्रकाश का आश्रय भी । जीव, ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता है तथा जीव नित्य चेतन द्रव्य है, अणुपरिमाण

---

1. अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूपसौभाग्यम् ।
   सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥ दशश्लोकी 5.

है और संख्या में अनेक हैं । नित्य होते हुए भी वह ईश्वर पर सर्वथा आश्रित है और ईश्वर द्वारा नियम्य है ।[1] मोक्ष दशा में जीव ईश्वराधीन रहता है । ईश्वर निश्छल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं । जीव ईश्वर का अंश है ।[2] अंश से तात्पर्य अंग या अवयव से नहीं बल्कि 'शक्तिरूपता' से है ।[3] ईश्वर शक्तिमान् है तथा जीव शक्ति रूप ।

अचित् या अचेतन तीन प्रकार का है । अप्राकृत-जिससे दिव्य लोक तथा दिव्य शरीर निर्मित होते हैं । प्राकृत या महत् तत्त्व से लेकर पञ्चभूतों तक त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न जगत् और काल - यह विभाग रामानुज के शुद्ध सत्त्व मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य के समान है ।

ईश्वर परब्रह्म है और सगुण भी । वह स्वभावतः सकलदोषों से रहित है और आनन्द ज्ञान बल आदि समस्त कल्याणगुणों का निधान भी है - वह चतुर्व्यूहों तथा अवतारों में अभिव्यक्त होने वाला अङ्गी है । वह परम वरेण्य, नारायण या श्रीकृष्ण हैं जिसके अनुग्रह से जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है ।[4] ईश्वर इस जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों कारण है । यह उपादान कारण है क्योंकि

---

1. ज्ञानस्वरूपंयो च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्
   अणुं हि जीवं प्रतिदेहाभिन्नं भातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ।।" दशश्लोकी 1.

2. ईश्वर अंश जीव अविनाशी । तुलसीदास, रामचरितमानस

3. अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः ।

4. स्वभावतो पास्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
   व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् - दशश्लोकी 4.

सृष्टि का अर्थ है उसकी सूक्ष्म चित् तथा अचित् शक्तियों का अविभक्त होना । वह संसार का निमित्त कारण है क्योंकि वह जीवों को उनके कर्मानुसार फल देता है और उनको अनुभव करने के लिए उचित उपकरण देता है ।[1] जैसे रस्सी के रूप में सर्प अपनी कुंडली का कारण होता है उसी प्रकार सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर भी संसार का उपादान और निमित्तकारण दोनों हैं । मूर्त तथा अमूर्त वस्तुओं का संसार सर्प की कुंडली की तरह उसका कार्य है । जैसे सर्प की कुंडली पराश्रित, व्याप्य और कार्य है तथा कुंडली की तुलना में सर्प स्वतंत्र, व्यापक और कारण है, वैसे ही ईश्वर और संसार में भी भेद है । जहाँ तक कुण्डली के अस्तित्व और उत्पत्ति की बात है वह सर्प के बिना स्वतंत्र रूप से संभव नहीं है अत: सर्प से उसका अभेद है । इसी प्रकार संसार जो चि चित् और अचित् शक्ति सम्पन्न ब्रह्म का कार्य है, अपने कारण अर्थात् ब्रह्म से स्वभावत: भिन्न और अभिन्न है ।[2] जैसे संसार और ब्रह्म के बीच भेद और अभेद सम्बन्ध हैं, वैसे ही जीव और ब्रह्म (पुरुषोत्तम) के बीच भी भेद और अभेद का सम्बन्ध[3] सत्य माना गया है । 'तत्त्वमसि' 'अयमात्माब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में भेद और अभेद दोनों का प्रतिपादन है । निम्बार्क चिदचिद् को ईश्वर का शरीर न मानकर उन्हें उसका शक्तिरूप अंश मानते हैं ।

----

1. जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे सति --- उपादानत्वं निमित्तत्वम् ।
   - वेदान्तकौस्तुभ 1/1/2.

2. वेदान्तकौस्तुभ 3/2/27 - कुण्डलोपादानभूतो
   "रज्ज्वाकार: अहि: कारणं --- स्वाभाविकौ भेदाभेदौस्त: ।"

3. जीवपुरुषोत्तमयोरपि तथा सम्बन्धो ज्ञेय: - निम्बार्क, ब्रह्मसूत्रभाष्य 3/2/28.

निम्बार्क मुक्ति के लिए भक्ति एवम् प्रपत्ति की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। प्रपत्ति के द्वारा जीवों पर भगवदनुग्रह होता है। अनुग्रह से भगवान् के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति भगवत्साक्षात्कार को उत्पन्न करती है जिससे जीव भगवत्भावापन्न होकर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है। शरीर सम्बन्ध रहने पर भगवद्भावापत्ति असंभव है। इसीलिए निम्बार्क मत में भी रामानुज की तरह जीवन्मुक्ति की कल्पना मान्य नहीं है।[1]

शुद्धाद्वैत वेदान्त

शङ्कर के बाद चार सम्प्रदायों की स्थापना करने वाले अनुपंथी वेदान्ताचार्यों में श्रीवल्लभाचार्य (1481-1533)[2] सबसे अन्तिम थे। परम्परानुसार उन्होंने तीसरी शताब्दी में हुए रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी के मत को विकसित करके[3] 'शुद्धाद्वैत मत' या 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना की।

'शुद्धाद्वैत' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - शुद्ध तथा अद्वैत। इसकी निष्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है। प्रथम, षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार और द्वितीय, कर्मधारय समास के अनुसार। षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है - शुद्धयोः अद्वैतम् इति शुद्धाद्वैतम् अर्थात् शुद्ध, जगत् और जीव का ब्रह्म से अद्वैत। जगत् और

---

1. दशश्लोकी के पद 9 पर वेदान्तरत्नमंजूषा।

2. भारतीय दर्शन, खण्ड 4, पृष्ठ 376.

3. वही, खण्ड 2, पृष्ठ 756.

जीव शुद्ध ब्रह्म के ही रूप हैं और ब्रह्म से अभिन्न हैं । कर्मधारय समास के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है - शुद्धं च तद् अद्वैतम् इति शुद्धाद्वैतम् अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है । वह माया सम्बन्ध से रहित होने से शुद्ध है और सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से अस्पृष्ट है ।[1] गोस्वामी गिरधर जी ने अपनी छोटी किन्तु प्रसिद्ध पुस्तक 'शुद्धाद्वैतमार्तमण्ड' में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि इस प्रसंग में 'मायासम्बन्धरहित' शुद्धतत्त्व ही 'शुद्ध' कहा गया है । अतः शुद्धाद्वैत के अनुसार शुद्ध तत्त्व ही 'शुद्ध' कहा गया है । अतः शुद्धाद्वैत के अनुसार शुद्ध ब्रह्म ही कारण कार्य रूप में अभिव्यक्त होता है ।[2] उस ब्रह्म का सम्बन्ध माया से नहीं है । शुद्धा-द्वैत सम्प्रदाय 'पुष्टिमार्ग' भी कहलाता है क्योंकि वह भगवत्कृपा को मानव जीवन के लिए सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु मानता है ।[3]

श्रीबल्लभाचार्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं - ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य, श्रीमद्भागवत पर सुबोधिनी टीका, तत्त्वार्थदीपनिबन्धन । बल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ का 'विद्व-मण्डन' प्रौढ़ग्रन्थ है । 'अणुभाष्य' पर 'पुरुषोत्तम का 'भाष्यप्रकाश' है जिस पर गोपेश्वर महाराज की 'रश्मि' नामक टीका है । श्रीपुरुषोत्तम गोस्वामी का सुबो-धिनीप्रकाश' तथा 'विद्वन्मण्डन' पर सुवर्णसूत्र नामक 'विवृत्ति' प्रसिद्ध शुद्धाद्वैती ग्रन्थ है ।

---

1. सजातीय-विजातीयस्वगतद्वैतविवर्जितम् । तत्त्वार्थदीपि, 1/66.

2. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।
   कार्यकारणरूपं हिशुद्धं ब्रह्म नमायिकं ।। शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृष्ठ 24.

3. पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गात् विलक्षणः । अणुभाष्य 4/4/9.

बल्लभ मत में शुद्ध ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैततत्त्व है । ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट है और विरुद्ध धर्माश्रय भी है । ब्रह्म में विरुद्ध धर्मों की स्थिति स्वाभाविक है, मायिक नहीं । ब्रह्म कार्य कारण दोनों रूपों में शुद्ध है । भगवान् श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं ।[1] वे एक भी हैं अनेक भी हैं । निर्विशेष निर्गुण भी हैं सविशेष सगुण भी । वे परमस्वतंत्र और भक्ताधीन भी हैं । वे अणु से अणु भी हैं, महान् से महान् भी हैं ।[2] संसार की उत्पत्ति और विनाश उसकी 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' कहलाने वाली शक्तियों का परिणाम है ।[3] बल्लभ संसार रचना के लिये 'माया' की कल्पना नहीं करते । उनके अनुसार 'माया' ईश्वर की एक शक्ति है और उससे अभिन्न है । अनेक रूपों में व्यक्त होने के लिए वह उसी शक्ति का प्रयोग करता है । बल्लभ के अनुसार 'माया' द्वारा संसार की उत्पत्ति मानने पर दो तत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा और अद्वैत की हानि होगी ।[4] बल्लभ माया को एक शाश्वत सत्ता मानते हैं किन्तु वह ब्रह्म का ही अंश है ।[5] अतः वह ब्रह्म से भिन्न न होकर एक रूप है ।

समस्त संसार ईश्वर की अभिव्यक्ति का परिणाम होने के कारण उससे एकाकार है । उनके विचार से ईश्वर समस्त वस्तुओं का ताना बाना है । सच्चिदानन्द

---

1. परं ब्रह्म तु कृष्णो हि --- । सिद्धान्तमुक्तावली 3.

2. देखिए कठोपनिषद् - अणोरणीयान् महतो महीयान् ।

3. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृष्ठ 8-13.

4. अणुभाष्य 1/1/6

5. पुरुषोत्तमभाष्य, पृष्ठ 86.

भगवान् को जब रमण करने की इच्छा होती है, एक से अनेक रूपों में अभिव्यक्त होने की इच्छा होती है, तब वे स्वयं जगत्, जीव और अन्तर्यामी रूपों में अभिव्यक्त होते हैं । समस्त भिन्न भिन्न प्रकृति और नामों की सत्ताएँ तत्त्वतः शुद्ध ब्रह्म ही हैं । उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है । यह सिद्धान्त स्पष्टतः सत्तामीमांसीय अद्वैतवाद है, इसलिए इसे शुद्धाद्वैत कहते हैं ।

ब्रह्म सबका समान रूप से अन्तर्यामी है । वह केवल पृथ्वी और चन्द्रमा आदि की गति का नियंत्रण नहीं करता, बल्कि वह सब जीवधारियों के कर्मों का भी नियंत्रक है । इसके साथ ही वह ईर्ष्या और पक्षपात से पूर्णतः मुक्त है ।[1] शङ्कर का ब्रह्म न तो कर्ता है न ही भोक्ता है, लेकिन बल्लभ का ब्रह्म कर्ता और भोक्ता दोनों है ।[2] फिर भी उसकी मूलप्रकृति सत्, चित् और आनन्दमय है जो अपनी पूर्णता के साथ उसमें सदा विद्यमान रहती है ।[3]

बल्लभ के अनुसार जगत् भ्रामक या असत् नहीं है । उसकी रचना ब्रह्म की सत् इच्छा पर निर्भर है, अतः ब्रह्म के समान वह भी सत् है । यद्यपि संसार की वस्तुओं में चेतना और आनन्द नहीं है, फिर भी संसार ब्रह्मसेतत्त्वतः अभिन्न है । ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म स्वयं संसार बन जाता है किन्तु उसकी प्रकृति (सच्चिदानन्द) में कोई परिवर्तन नहीं होता ।

---

1. अणुभाष्य, 2/1/34.

2. वही, 1/1/1.

3. वही, 1/1/1.

बल्लभ के अनुसार जीव शाश्वत है, अणुरूप है ।[1] ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध अंश और अंशी या 'अग्नि' और स्फुलिंग जैसा है । उनकी अन्त:प्रकृति चेतन और आनन्दमय है, इसलिए वह बिल्कुल ब्रह्म जैसा ही हैं ।[2]

बल्लभ ने मुक्तिप्राप्त करने हेतु भगवान् कृष्ण की 'भक्ति' पर बड़ा बल दिया है । 'मर्यादामार्ग या वैदिक मार्ग में 'भक्ति' कर्म, ज्ञान और उपासना के द्वारा प्राप्त की जाती है और उसका लक्ष्य 'सायुज्यमुक्ति' है । पुष्टिमार्ग में 'भक्ति' ईश्वर के अनन्य प्रेम द्वारा उनके प्रति आत्मसमर्पण है । रामानुज ने 'भक्ति' को 'ध्रुवानुस्मृति' कहकर उसे ज्ञान की एक दशा या रूप बताया है जबकि बल्लभ भक्ति को भगवान् के प्रति अतिशय राग या प्रेम समझते हैं और उसे कर्म और ज्ञान दोनों से अभिन्न मानते हैं । बल्लभ के अनुसार भक्ति का अर्थ है भगवान् की महिमा का ज्ञान और उसके प्रति स्थायी परम प्रेम ।[3] 'भक्ति' शब्द भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय करके बना है जिसका अर्थ है,- सेवा करना, भजन करना, प्रेम करना । विना सेवा के प्रेम खोखला है । जब सेवाभाव और प्रेमभाव दोनों होगा तभी 'भक्ति' होगी ।[4]

---

1. अणुभाष्य, 2/3/19.
2. सच्चिदानन्दरूपेभ्य: यथायथं जडाश्चिदंशजीवबन्धनपरिकरभूता: सरंशा: जीवाश्चिदंशा बन्धनीया आनन्दांशास्तन्नियामका: अन्तर्यामिनश्च व्युस्फुलिंगन्यायेन व्युच्चरन्ति । - अणुभाष्य प्रकाश, पृष्ठ 161-62.
3. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ: सर्वतोऽधिक: ।
   स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नधान्यथा ॥ - तत्त्वार्थदीप, पृष्ठ 65.
4. श्रीकृष्णविषयिणी प्रेमपूर्विका सेवा भक्ति: । भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ 79.

बल्लभ गोलोक के बृन्दावन में भगवान् कृष्ण की नित्यलीला में सम्मिलित होना, ब्रह्म से एकत्व स्थापित करने से अच्छा समझते हैं । वे ज्ञान की महत्ता इस अर्थ में स्वीकार करते हैं कि इससे अज्ञान का अन्धकार दूर होता है । बल्लभ इसी भक्ति से 'मुक्ति' मानते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमने भारतीय दर्शन में वेदान्त का जो संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया उसमें शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और बल्लभ के सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं । इनमें यदि हम देखें तो रामानुज का 'विशिष्टाद्वैत' अधिक व्यावहारिक और ग्राह्य प्रतीत होता है । शंकर की यदि हम समीक्षा करें तो देखेंगे कि उनका तथाकथित 'अद्वैत' ब्रह्म ही अन्तर्विरोधों से युक्त है । उसको पर और अपर कहकर स्वयं शंकर ने उसकी 'अद्वैतता' पर प्रश्नचिह्न लगा दिया । जगत् को असत् मानकर उसे अग्राह्य बना दिया है । फिर मध्व ने पाँच प्रकार के भेदों को नित्य मानकर किसी एक मत् का प्रतिपादन करना भी आवश्यक नहीं समझा, जो वेदान्त के सिद्धान्त के ही अनुरूप नहीं ठहरता । पुनः निम्बार्क ने भेद और अभेद दोनों को सत् मानकर उपनिषदों की 'एकमेवाद्वितीयम्' की विचारधारा ही बदल दी है । इसके अतिरिक्त बल्लभ के ब्रह्म की सत्यता और नित्यता के साथ जीव, जगत्, काल और प्रकृति आदि की सत्यता और नित्यता मानने से शुद्धाद्वैत की अपेक्षा भेद में अभेद या भिन्नता में तादात्म्य का सिद्धान्त ही प्रतिपन्न होता है और शुद्धाद्वैत यह नाम उचित प्रतीत नहीं होता । इन सबके अतिरिक्त रामानुज के विशिष्टाद्वैत को जब हम समीक्षित करते हैं तो वह अधिक व्यावहारिक और बुद्धिसंगत लगता है ।

---------::0::---------

द्वितीय अध्याय

वैदिक वाङ्मय में विशिष्टाद्वैत

(क) वेद

(ख) ब्राह्मण

(ग) आरण्यक

(घ) उपनिषद्

वेदों में विशिष्टाद्वैत

वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत चारों वेदों में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। ऋग्वेद की अनेकानेक ऋचाएँ यजुर्वेद, सामवेद और अर्थववेद में भी पायी जाती हैं। अत: विशिष्टाद्वैत के उद्‌गम की दृष्टि से सर्वप्रथम हम ऋग्वेद पर ही विचार करते हैं।

आर्यों के धर्मदर्शन में सृष्टि की रचना एवं विश्व के संचालन के लिए ईश्वर, जीव एवं प्रकृति ﴾जगत्﴿ उसी प्रकार स्वीकार की गयी है जिस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में चित् ﴾जीव﴿ अचित् ﴾जगत्﴿ और ईश्वर - इस तत्त्वत्रय की सत्ता स्वीकार की गयी है। ऋग्वेद के 'पुरूषसूक्त' तथा नासदीय सूक्त में 'परमपुरूष' से इस सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। पुरुष सूक्त में यह वर्णित है कि परम पुरुष ﴾ईश्वर﴿ के असंख्य सिर, हाथ, पैर, आँख आदि हैं और वह ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित है -

सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्॥ ऋग्वेद 10.90.1

पुरुषसूक्त में आगे कहा गया है कि यह सब दृश्यमान वर्तमान जगत् 'पुरुष' ही है, जो कुछ हो चुका है और जो होगा, वह भी पुरुष ही है तथा पुरुष देवताओं या अमरत्व का स्वामी है :-

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ ऋग्वेद 10/90/2.

वहीं आगे कहा गया है कि उस परमात्मारूपी पुरुष के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, भुजाओं से क्षत्रिय उत्पन्न हुए, इसकी जाँघों से वैश्य पैदा हुए तथा पैरों से शूद्रों का जन्म हुआ :-

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत् बाहू राजन्य: कृत: ।
उरु: तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥ ऋग्वेद 10/90/12

नासदीय सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के पहले न असत् था और न ही सत् था । रजस् पातालपर्यन्त पृथ्वी आदि लोक भी नहीं थे, अन्तरिक्ष नहीं था, तो फिर क्या था ? क्या जल ही जल था ? :-

नासदासीन्न सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत् ।
किमावरीव: कुह कस्य शर्मन्नम्भ: किमासीत् गहनम् गभीरम् ॥
- ऋग्वेद 10/129/1.

इसके उत्तर में कहा गया है कि पहले पहल न तो मृत्यु थी और न ही अमृतत्व था । रात्रि और दिन का ज्ञान भी नहीं था । बस एक ही तत्त्व 'ब्रह्म' था जो अपनी माया से अविभक्त एकरूप विद्यमान था :-

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न् आसीत्प्रकेत: ।
आनीदवातं स्वधया[1] तदेकं तस्याद्धान्यन्न परं किंचनास ॥
- ऋग्वेद 10/129/2

----

1. स्वधया मायया युक्तं एकमेव ब्रह्म आसीत् इति तात्पर्यम् । - सायणभाष्य

इस प्रकार सविशेष ईश्वर को ही इस सृष्टि का निमित्तोपादान कारण माना गया है । ऋग्वेद में कहा गया है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस उपा-दान और निमित्तकारण से उत्पन्न हुई है, 'वह' ईश्वर ही इसे धारण किए हुए है । इसके अतिरिक्त उसे अन्य कोई धारण नहीं किए है :-

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमनत्सो सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

- ऋग्वेद 10/129/7.

ईश्वर, प्रकृति तथा जीव इस तत्त्वत्रय को ऋग्वेद के एक श्लोक द्वारा बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया गया है :-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

- ऋग्वेद 7/164/20.

अर्थात् सुन्दर पंखों वाले समानवय दो पक्षी मित्र समान रूप से विश्व का आलिङ्गन कर रहे हैं । उनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पल का आस्वाद ले रहा है, दूसरा भोग न करता हुआ भी आनन्द उठा रहा है । इसमें विश्व (जगत्) प्रकृति है, पिप्पल उसका भोग्य पदार्थ है । आस्वादन करने वाला पक्षी तथा भोग न करने वाला दूसरा पक्षी ईश्वर है । इसी प्रकार :-

'तद्विष्णोः परमं पदं सदापश्यन्ति सूरयः ।
दिववीव चक्षुराततम् ।' ऋग्वेद 1/22/20.

में विष्णु परमात्मा के लिए 'सूरय:' जीवों के लिए और 'दिवीव चक्षु:' प्रकृति रूप सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

विशिष्टाद्वैतसम्मत मुक्ति के साधनभूत 'भक्तितत्त्व' के मूल की दृष्टि से ऋग्वेद का ही उल्लेख सर्वप्रथम आता है । ऋग्वेद के संहिता भाग में कर्मकाण्ड की बहुलता के बाद भी संहिता भाग के इन मंत्रों (ऋचाओं) में यज्ञादि कर्मकाण्ड को सुसम्पन्न करने के लिए वैदिक ऋषियों द्वारा विभिन्न देवताओं की प्रार्थनाएँ, स्तुतियाँ की गयी हैं । इन ऋचाओं के गाढ़ अनुशीलन से पता चलता है कि 'भक्ति' के जिस स्वरूप का प्रतिपादन विशिष्टाद्वैतदर्शन में किया गया है, भक्ति अपने उस रूप में संहिता या ब्राह्मण भाग में भले उपलब्ध न हो किन्तु भक्ति का मूल तत्त्व स्नेह या अनुराग विभिन्न ऋषियों की देवताओं को लक्ष्य करके की गयी स्तुतियों में स्पष्ट झलकता है ।[1] ये स्तुतियाँ या प्रार्थनाएँ इतनी मार्मिकता के साथ की गयी हैं कि इनके स्तोता के हृदय में अपने स्तूयमान देवता के प्रति उत्कट प्रेम का अभाव मानना अत्यन्त उपहास्पद होगा ।

परवर्ती साहित्य में 'साधनभक्ति' के नव भेदों की कल्पना की गयी है ।

----

1. तमस्तोतार: पूर्व्यं यथाविद
   ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन ।
   आस्य जानन्तो नाम किंचिद विविक्तन
   महस्ते विष्णो: सुमतिं भजामहे ।। ऋग्वेद 1/15/3.

ये भेद हैं - श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ।[1] रामानुज इन्हें 'परा भक्ति' के अन्तर्गत मानते हैं । ये समस्त भेद किसी न किसी रूप में ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं । पौराणिक भक्ति की नव कोटियों में 'स्मरण' का उल्लेख है । स्मरण से अभिप्राय ध्येय के स्वरूप और कर्त्तृत्वों के अनुचिन्तन से है । विशिष्टाद्वैती रामानुज की भक्ति का तो 'स्मरण' प्राण ही है । उनके मत में निश्चित ध्यान परम्परा की भक्तिरूपता के लिए उसका स्मरण होना अनिवार्य है । वैदिक ऋषि भगवान् विष्णु का स्मरण और कीर्तन करने वाले भक्तजनों के प्रति उनकी भक्तवत्सलता का वर्णन करते हुए कहता है कि :-

किं चक्रमे पृथिवीमेष एता
श्रेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनासः
उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ।। ऋग्वेद 7/10 0/4.

उक्त श्रुति के भाष्य में सायण ने 'मनुषे' का अर्थ स्मरणशील (भक्त) और कीरयः का 'कीर्तनशील' (भक्त) किया है । इसके अतिरिक्त ध्यान का भी विधान ऋग्वेद में किया गया है । गायत्री मंत्र के नाम से जो मन्त्र ऋग्वेद में प्रसिद्ध है, उस मंत्र में सवितृदेव के ध्यान का विधान किया गया है ।[2]

---

1. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुंसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्च नवलक्षणा। श्रीमद्भागवतपुराण 1/5/23-24.

2. ॐ भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
- ऋग्वेद 3/62/10.

एक अन्य मंत्र में ऋषि द्वारा अग्नि का ध्यान करने का उल्लेख हुआ है।[1] इसी प्रकार ऋग्वेद की एक अन्य श्रुति 'कीर्तन' की ओर संकेत करती है जिसमें साधक अपने द्वारा कीर्तित मंत्रों को विष्णु तक पहुँचाने की कामना करता है।[2]

पादसेवन से तात्पर्य है भगवान् के अर्चादिविग्रह पादपद्मयुगल की सेवा करना। ऋग्वैदिक ऋषि कहता है कि :-

यस्यस्त्रीपूर्णा मधुना पदा-

न्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।

य उ त्रिधातु पृथिवीमुत

द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥

- ऋग्वेद 1/154/4.

इस श्रुति में भगवान् विष्णु के चरण कमलों के सेवन का स्पष्ट विधान किया गया है। सायण 'स्वधया मदन्ति' पद के द्वारा भगवान् विष्णु के चरणाब्जरसिकों के सर्वफल प्रदान द्वारा भक्तों के हर्ष रूप अर्थ को स्वीकार करते हैं। वैसे भी श्रुत्यर्थ द्वारा पादसेवा की अभिव्यंजना तो स्पष्ट ही है।

---

1. नि त्वा यज्ञस्य साधनमग्ने होतारमृत्विजम् ।
   मनुष्यद्देव धीमहि प्रचेतसं जीरं दूतं मर्त्यम् ॥ - ऋग्वेद 1/44/11.

2. प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म
   गिरिक्षित उरुगाय विष्णो ।
   यो इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थ
   मेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ॥ - वही 1/154/3.

साधन भक्ति के भेदों के अन्तर्गत आने वाली वन्दना, अर्चना का भी विधान निम्न श्रुति द्वारा किया गया है :-

नूमतो दयते सनिष्यन्
यो विष्णव उरुगायाय दाशत् ।
प्रय: सत्राचा मनसा यजात्
एतावन्तं नर्यमाविवासात् ॥ ऋग्वेद 7/100/1.

इस श्रुति में दाशत् द्वारा दान, प्रयजात् द्वारा अर्चना और आविवासात् द्वारा वन्दनादि 'भक्ति' का ग्रहण किया गया है ।[1] ऋग्वेद में ऋषि अग्नि को दीप्तिमान और अच्छा कहकर प्रणाम करता है ।[2]

एक अन्य ऋचा में ऋषि मनुष्यों को प्रणाम के साथ महान् आदित्य को प्राप्त करने की सलाह देता है ।[3] उसी प्रकार ऋग्वेद में ऐसे सैकड़ों स्थल हैं जहाँ ऋषिगण अपने आराध्यों के लिए नमस्कार करने का विधान करते हैं ।[4] दास्यभक्ति के बीज भी ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं :-

त्रिदेव: पृथिवीमेष एतां
विचक्रमे शतर्चसंमहित्वा ।

---

1. भक्ति चन्द्रिका 2/9.
2. अग्नि सुदीतिं सुदृशं गृणन्तो नमस्यामस्त्वे यं जातवेद: । ऋग्वेद 3/16/4.
3. महा आदित्यो नमसोपसाद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेव: ।वही, 1/26/13.
4. वही, 6/51/8, 8/36/5, 10/165/4, 1/227/1, 2/38/9, 5/1/7 आदि

प्रविष्णुरस्तु तवसस्तवीयान्

त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम ।। - ऋग्वेद 7/100/3

इस श्रुति के आधार पर भक्ति चन्द्रिकाकार श्रीनारायण तीर्थदास्य भक्ति की वेद-मूलकता सिद्ध करते हैं । उनके अनुसार श्रुति में वर्णित विष्णु का 'महत्' नाम वाला होना साधक के दास्य होने से ही संगत बैठता है ।[1] ऋग्वेद में अन्यत्र ऋषि ईश्वर की उसी प्रकार सेवा करने की इच्छा करता है जिस प्रकार भृत्य अपने स्वामी की ।[2]

इसी प्रकार :-

तदस्य प्रियमभिप्राथो अश्यां

नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।

उरुक्रमस्य स हि बन्धुरत्था

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ।। वही 1/154/5.

इस श्रुति में बन्धु शब्द के द्वारा वैदिक ऋषि विष णु के साथ बन्धुभाव को स्थापित

----

1. महतो हिदास्यमाशास्यं लोकानाम् । अनेन हेतुमद् निगदेन विष्णोर्दास्यमेवप्रार्थ्यते स्मिन्मन्त्रे । अन्यथा स स्वामी अस्तु यतोऽस्य महदिदत्य सम्बन्धं स्यात् । अस्माकं तद्दास्यमस्तु यतोऽस्यनाम महदितितद्युक्तम् ।

- भक्तिचन्द्रिका, पृष्ठ 89.

2. अरदासोन महिळसे कराण्यहं देवास भूर्णये नागाः ।
अचेतयदाचितो देवो अर्यो गृत्सराये कवितरो जुनाति ।। ऋग्वेद 7/86/7.

करता है। इस बन्धुभाव का ही रूप सख्य भाव भी है, जिससे सख्य भक्ति का ग्रहण किया जाता है। ऋग्वेद के विश्वेदेवासूक्त में भी ऋषि देवों के साथ स्वकीय सख्यभाव की अभिलाषा व्यक्त करता है।[1]

नवधाभक्ति के अन्तर्गत उल्लिखित 'आत्मनिवेदन' भक्तिभावना का सार माना जाता है। इसी को रामानुज ने भक्ति की अङ्गभूता स्वतंत्रोपायरूपा प्रपत्ति कहा है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त में आत्मनिवेदन रूप प्रपत्ति के छह अङ्ग माने गए हैं जिनमें प्रत्येक की सत्ता ऋग्वेद में विद्यमान है। आत्मनिवेदन का प्रथम अङ्ग है- 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' अर्थात् ईश्वराभिमत गुणों का अर्जन। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में ऋषिप्रभुप्राप्ति के मार्ग के अनुकूल साधनों को अपनाने का दृढ़संकल्प करता है :-

सूत्रमाणं पृथिवीं द्यामनेहसं
सुधर्माणमदितिं सुप्रणीतम्।
दैवीनावं स्वरित्रमनागसं
सुक्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ ऋग्वेद 8/63/10.

ईश्वर के प्रतिकूल गुणों का परित्याग आत्म-निवेदन का दूसरा अंग है। इसका बोधक मंत्र है :-

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्
निश्चितापाश्वान्निर्गमाणि।

---

1. देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां, देवानां रातिरभिनी विवर्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं, देवा न आयुःप्रतिरक्षन्तु जीवसे ॥ ऋग्वेद 1/89/2.

बहूनि में अकृता कर्त्वानि,

युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छ ॥ ऋग्वेद 4/18/2.

इस श्रुति में ईश्वर के प्रतिकूल विषयों का परित्याग तथा अनुकूल विषयों का संकल्प दोनों समाविष्ट हैं ।

ईश्वर के रक्षार्थ-निवेदन को विशिष्टाद्वैत के आचार्य आत्मनिवेदन (प्रपत्ति) के तीसरे अङ्ग के रूप में स्वीकार करते हैं । वैदिक ऋषि रक्षार्थ निवेदन करता है कि-

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये

सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे ।

अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं

राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् । - वही, 1/57/1.

अर्थात् हे प्रभु ! आज हम आपके महान् से महान् प्लावित जल के समान दुर्निवार सबके लिए अनावृत्त और बड़ी से बड़ी शक्ति देने वाले रक्षक स्वरूप को मति में धारण करता हूँ, हृदय से वरण करता हूँ ।

उपर्युक्त श्रुति में वैदिक ऋषि अपने आराध्य को रक्षक के रूप में निवेदन करता है ।

साधक जब सुख दुःखादि द्वन्द्व के भीषण झंझावात से साधना में विचलित हो उठता है तो उस समय साधक को ईश्वर की रक्षणशक्ति में विश्वास ही बल प्रदान करता है । ईश्वर द्वारा अपनी रक्षा के इसी विश्वास की वैदिक ऋषि अभिव्यक्ति

करता है :-

इन्द्रो अङ्गमहद्भयम् ।

अभीषत् अपचुच्यवत् ॥

स हि स्थिर विचर्षणि । ऋग्वेद

अर्थात् भयभीत होने का कोई कारण नहीं है । इन्द्र अविचल भाव से देख रहे हैं । वे सामने आए बड़े से बड़े भय को भी नष्ट कर देते हैं ।

ईश्वर के प्रति अपनी तुच्छता करना आत्मनिवेदन (शरणागति) का एक अन्यतम अङ्ग है । वैदिक ऋषि रुद्र के सामने अपनी दीनता को प्रकट करते हुए कहता है कि हे नाथ ! मुझे क्षमा करें । आपसे दूर हटकर मैं अतीव दुःखी हूँ । आप अपने रोगविनाशक आनन्दप्रदायक हाथ को पुनः मेरे सिर पर रख दें ।[1] इसी प्रकार वैदिक ऋषि एक अन्य स्थल पर इन्द्र से अपनी दीनता प्रकट करते हुए कहता है कि ये सांसारिक बाधाएँ हमें वैसे ही खाए जा रही हैं जैसे चूहा आटे से लिपटे हुए सूत को खाता है ।[2]

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत सम्मत भक्ति के समस्त अवयव ऋग्वेद में अनेक ऋचाओं में बीजरूप में उपलब्ध होते हैं । चूँकि भक्ति प्रतिपादन करने वाली ऋचाएँ यथावत् यजुर्वेद, सामवेद तथा अर्थर्ववेद में भी पुनरावृत्त हैं, इसलिए उक्त वेदों में भी भक्ति की पूर्वोक्त स्थिति प्राप्त होती है ।

---

1. क्वस्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो, यो अस्ति भेजसो जलाष: ।
   अपभर्ता रंपसो दैवस्याभीनु, मा वृषभ चक्षमीथा: ॥ - ऋग्वेद 2/33/7.

2. मूषो न शिश्ना व्यदन्ति, माध्यो स्तोतारं ते शतक्रतो ।
   सकृत्सु नो मदयवन्निन्द्र । मृळयाधा पितेबनेभव । वही, 10/33/3.

ब्राह्मणग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत

ब्राह्मणग्रन्थों में यद्यपि संहिता भाग के मंत्रों का याज्ञिक कर्मकाण्डों में विनियोग आदि का विधान किया गया है किन्तु संहिताभाग की व्याख्या के कारण इन ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत सम्मत तात्त्विक चिन्तन तथा भक्ति के बीज इतस्तत: बिखरे हुए मिलते हैं। इन ग्रन्थों में भक्ति विषयक विशेषता यह है कि इनमें जप का विधान किया गया है। जप निश्चितरूप से परवर्ती भक्ति का अंग है। जप के विधान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति के विकास की पुष्टि होती है।

ऐतरेय ब्राह्मण, जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है, के पच्चीसवें अध्याय में 'ओ३म्' की उत्पत्ति के बारे में चर्चा मिलती है और उसे सर्वोच्चसत्ताक माना गया है। 'ब्राह्मण ग्रन्थों में 'यज्ञो वै विष्णु:' कहकर यज्ञ को ही विष्णुरूप माना गया है और इसी यज्ञरूपी विष्णु से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में जप के महत्त्व तथा जप के विधान का वर्णन है कि जिस देवता को हविप्रदान उसका ध्यान करना चाहिए।

यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण में यज्ञीय कर्मकाण्डों की ही बहुलता है किन्तु 'भक्ति' के अनिवार्य अंगों जैसे - सबसे प्रेम करना, द्वेषरहित रहना, प्रणव तथा अन्य मन्त्रों का जप करना, शुचिता, दिव्यता और क्रोध आदि का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण, 4/2/3/11 में गायत्री की प्रशंसा और जप का विधान, शत0, 4/5/8 के छठें, आठवें प्रकरण में ब्रह्मा और मैत्रावरुण के जप और शत0 4/2/6/12 में 'ओ म्' के जप का विधान है और कहा गया है कि वही सत् है।[1] 'प्रेम' 'भक्ति' का मूल

---

1. स वै ओ३म्। तद्धि सत्यम्। तद्देवा: विदु:। तस्मात् ओइम् प्रतिगृणीयात्।
   - शतपथ ब्राह्मण 4/2/6/12.

तत्त्व है । शतपथ ब्राह्मण में देवों के प्रिय होने की बात कही गयी है ।[1] देवों को प्रिय होने के लिए नमस्कार या प्रणति का विधान शतपथ ब्राह्मण करता है ।[2] अर्चना नवधाभक्तिका ही अंग है ।[3] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भजन का विधान किया गया है ।[4] सामवेद से सम्बन्धित आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार प्रमादरहित होकर अपनी कामना को ध्यान में रखते हुए प्रभु के समीप ध्यान द्वारा तन्मय भाव से स्तुति करनी चाहिए । ध्यान और स्तुति स्पष्टतः भक्ति के अंग हैं । गोपथ ब्राह्मण, जिसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है, पर्याप्त अर्वाचीन है, इसमें भी 'प्रणव' के जप का गुणगान किया गया है।[5]

----

1. अहं वः प्रियो भूयासम् इत्येव एतदाह । शतपथ ब्राह्मण 2/3/2/34.

2. उपत्वाग्नेदिवे दिवे दोषावस्तिर्धिया वयम् '
   नमोभरन्त एमसिनमः एव अस्या एतत् करोति ।
   यथा एनं न हिंस्यात् । वही, 3/22.

3. तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरु । - वही 1/5/1/3.

4. सह अग्निरुवाच मय्येव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु, तद्वा हं मयि आ भजामि इति ।
   - वही, 1/5/2/20.

5. अमृतं वै प्रणवः अमृतेनैव तत् मृत्युं तरति । ब्रह्म ह वै प्रणव ब्रह्मणा एव अस्मै तद् ब्रह्म उपसन्तनोति । - गोपथ ब्राह्मण भाग 2, प्रपाठक 2.

गोपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर सामवेद को वेदों का रस कहा गया है ।[1] सामवेद उपासनाकाण्ड का वेद है । उपासना और भक्ति एकार्थक है ।

ब्राह्मणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है यज्ञीय कर्मकाण्ड । यज्ञों के सम्पादन में श्रद्धा का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है । श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि को कहते हैं । आस्तिक्य बुद्धि से अभिप्राय परब्रह्म शब्द से कहे जाने वाले वासुदेव भगवान् ही सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं और सम्पूर्ण वैदिक कर्म उन्हीं की आराधना के निमित्त है । वे ही वैदिक कर्मों से आराधित किये जाने पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप फल प्रदान करते हैं । इस अर्थ की सत्यता का निश्चय करने वाली बुद्धि ही आस्तिक्य बुद्धि है।[2] श्रद्धा के अभाव में सम्पूर्ण वैदिक कर्म निष्फल हो जाते हैं । श्रद्धा और प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जहाँ श्रद्धा है वहाँ प्रेम अवश्य रहता है किन्तु जहाँ प्रेम है वहाँ श्रद्धा जरूरी नहीं है । महनीय विषयक प्रेम ही भक्ति है और ब्राह्मणों के यज्ञीय कर्मकाण्डों में विद्यमान श्रद्धा का विकसित रूप ही भक्ति है । शतपथ ब्राह्मण में नारायण द्वारा पांचरात्र यज्ञ करने का उल्लेख है ।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप में तात्त्विक चिन्तन के साथ 'भक्ति' का वर्णन है जो विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुरूप ही है ।

----

1. गोपथ ब्राह्मण भाग 2, प्रपाठक 5, कण्डिका 6.

2. रामानुजगीताभाष्य 18/42.

आरण्यकों में विशिष्टाद्वैत

आरण्यकों में ब्राह्मणों की तरह याज्ञिक अनुष्ठानों की मीमांसा नहीं वरन् आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा की गयी है । अरण्य (वन) के एकान्त वातावरण में इनका प्रतिपादन, अध्ययन होने से इसका नाम आरण्यक सार्थक है । प्राणविद्या का भी इसमें गुणगान किया गया है । तात्त्विक दृष्टि से इसमें विशिष्टाद्वैत के लक्षण यत्र तत्र परिलक्षित होते हैं । इसमें आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है तथा 'ब्रह्म' को परम सत्, समस्त गुणों से युक्त एवं हेय गुणों से रहित बताया गया है ।

बृहदारण्यक में कहा गया है कि यह जो भी दृश्य है वह आत्मा है ।[1] जब सब कुछ आत्मा ही है तो किससे किसको देखें, किससे किसको जानें ।[2] बृहदारण्यक में ब्रह्म को ही आत्म तत्त्व के रूप में व्याख्यायितकिया गया है । तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है कि यही ब्रह्म इस जगत् को धारण किए हुए है । वह सभी प्राणियों के अन्दर प्रविष्ट होकर शासन करता है ।[3] इस प्रकार ब्रह्म से जीव और जगत् अपृथक सिद्ध है । ब्रह्म को 'विज्ञानमानन्दंब्रह्म' (बृ० 5/9-25) कहकर आनन्दत्व

---

1. इदं सर्व यत्, अयमात्मा', बृहदारण्यक, 4/4/6.
2. यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितरं पश्यति --- यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् --- तत् केन कं पश्येत् , तत् केन कं विजानीयात् । वही, 4/4/14.
3. अन्त:प्रविष्ट:शास्ता जनानां सर्वात्मा । तैत्तिरीय आरण्यक ।1-20.

को उसका गुण बताया गया है । 'इन्द्रोमायाभिः पुरूरूप ईयते '[1] इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा की अनेकता सिद्ध की गयी है । उस परमतत्त्व के संकल्प मात्र से इस जगत् की सृष्टि हुई है ।[2] बृहदारण्यक में विशिष्टाद्वैतानुसारी व्याख्या ईश्वर के अन्तर्यामित्व कीकीगयी है । इसमें कहा गया है जो पृथ्वी में रहते हुए पृथ्वी से भिन्न है जिसे पृथ्वी नहीं जानती, किन्तु पृथ्वी जिसका शरीर है वह आत्मा अमर और सबका अन्तर्यामी है ।[3] इसी प्रकार एक अन्य जगह पर कहा गया है कि 'प्राण' ही इस विश्व को धारण किए है ।[4]

आरण्यकों में तात्त्विक विवेचना के साथ ही साथ जगह-जगह भक्तियोग का भी उल्लेख हुआ है । आरण्यकों में बहिर्योग की अपेक्षा अन्तर्योग को अधिक महत्व दिया गया है । चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग का प्रचार-प्रसार इस युग में कानन कन्दराओं में रहने वाले ऋषियों द्वारा पर्याप्त रूप में हुआ है । अन्तर्योग और बहिः योग की भावना से भावित अरण्यवासी ऋषियों द्वारा वर्द्धमान भक्तिवृक्ष का भी यथायोग्य सेचन हुआ है ।

----

1. बृहदारण्यक 4/5/19.

2. स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति । ऐतरेयारण्यक 1/1/1.

3. यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं०पृथिवी नवेद, यस्य पृथिवी शरीरं -- एष त आत्मा न्तर्याम्यमृतः । - बृहदारण्यक 5/7/6.

4. सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः। एवं सर्वाणिभूतानि आपिणीलिकाभ्यः प्राणेनबृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात् ।
ऐतरेयारण्यक 2/1/6.

उपनिषदों में विशिष्टाद्वैत

वैदिक वाङ्मय के अन्त में उपनिषदों की गणना होती है । उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है जिसके पीछे [की] मूलभावना यह [भी] है कि उपनिषदों के साथ ही वैदिक युग का अन्त हो जाता है और उसके बाद युग आता है, वैदिक वाङ्मय के आधार पर विकास को प्राप्त करने वाले स्मृति, पुराण और इतिहास आदि का । वेदों के संहिता भाग, ब्राह्मणों, आरण्यकों में विशिष्टाद्वैतसम्मत सिद्धान्तों की जो धारा शनैः शनैः बह रही थी उसे उपनिषदों ने गति प्रदान की ।

'उपनिषद्' शब्द उप और नि उपसर्गपूर्वक 'सद्लृ'[1] (सद्) धातु से निष्पन्न है जिसका तात्पर्य है गुरू के समीप जाने पर शिष्य के अविद्यादि क्लेशों का नाश, ब्रह्मविद्या की प्राप्ति तथा कर्मबन्धनों को शिथिल करने वाला ग्रन्थ । इस प्रकार उपनिषदों को ब्रह्मविद्या का वाचक माना जाता है ।

उपनिषद् भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत हैं । भारतीय दर्शन की कोई ऐसी विचारधारा नहीं है जिसका उद्गम उपनिषद् में न हो तो फिर विशिष्टाद्वैत, विचारधारा इससे अछूती कब रहती ? विशिष्टाद्वैतसम्मत दार्शनिक विचारों का बीज उपनिषदों में बहुशः मिलता है । चिद्-आत्मा, अचित् जगत् या फिर चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म का विवेचन हमें उपनिषदों में मिलता है । विशिष्टाद्वैत की भक्ति और प्रपत्ति का भी बीज हमें उपनिषदों में दिखाई देता है ।

---

1. सद्लृ विशरणगत्यावसादनेषु (पाणिनि)

उपनिषदों में आत्यतत्त्व को स्वत: सिद्ध और स्वयं प्रकाश माना गया जो विशिष्टाद्वैत का जीवात्मा सम्बन्धी सिद्धान्त का आधाराश्म है । प्रत्येक व्यक्ति को 'अहं जानामि' इस प्रकार अपने आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है । यह 'अहं प्रतीति' संशय का विषय नहीं है और न ही आत्मा का निषेध ही किया जा सकता है क्योंकि आत्मा ही तो निराकर्त्ता है । वस्तुत: जीव का स्वरूप शुद्ध आत्म चैतन्य है । यह स्वत: प्रकाशक तथा आनन्दरूप है । यामुनाचार्य भी 'आत्मा भिन्न स्वत: सुखी' कहकर इसकी स्वत: प्रकाशता, स्वत: सिद्धता तथा सुख-रूपता को स्वीकार करते हैं । बृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है कि यह जो कुछ भी है, सब आत्मा है ।[1] यह आत्मा ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध है । माण्डूक्य उपनिषद में कहा गया है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है ।[2] वह ईश्वर से भिन्न होकर भी उससे अभिन्न है । यही उसका अपृथक् सिद्धत्व है ।

उपनिषद में 'ब्रह्म' सर्वव्यापी परमसत्ता का वाचक है । छान्दोग्य उपनिषद (3.14) में उसे 'तज्जलान्' कहा गया है । तैत्तिरीय उपनिषद में ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादान कारण बताया गया है :-

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति ।"[3]

---

1. इदं सर्वं यत्, अयमात्मा । बृहदारण्यकोपनिषद 4/4/6.

2. 'अयमात्मा ब्रह्म' । माण्डूक्योपनिषद

3. तैत्तिरीयोपनिषद 3/1.

अर्थात् जिससे यह सारा जड़ चेतनमय विश्व उत्पन्न होता है, जिससे यह जीवित रहता है तथा जिसमें पुन: लीन होता है । वह ब्रह्म है ।

उपनिषदों में जगत् को सत्य माना गया है जो विशिष्टाद्वैत मतानुरूप ही है । जगत् सत् है, मिथ्या नहीं, क्योंकि जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है । ईश्वर या ब्रह्म, जगत् तथा जीव का अन्तर्यामी है । जगत् या जीव ईश्वर की विभूति है। उससे अपृथक् सिद्ध हैं तब फिर जगत् का मिथ्यात्व कैसा ? इस बात को उपनिषदों में भी माना गया । बृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया वह ब्रह्म इस जगत् की रचना करके, उसमें प्रवृष्ट हो गया ।[1] ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है कि उस ब्रह्म ने जगत् की रचना की ।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म को ईश्वरों में महान् ईश्वर, देवताओं में परमदेवता, स्वामियों में परम स्वामी कहा गया है और कहा गया है कि यह विश्व उसी परम सत् की शक्ति से उत्पन्न है :-

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्
निदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

----

1. तच्छृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशत् , बृहदारण्यक0

2. स लोकान्नुसृजा इति - ऐतरेयोपनिषद् - 1.

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥[1]

उपनिषदों में उस परम ब्रह्म की सगुणता तथा निर्गुणता दोनों वर्णित है। 'एष आत्मा पहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'[2] 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'[3] निर्गुणं निष्कलं शान्तं विरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादि में अपहतपाप्मत्व, अजरता, अमरता, सत्य संकल्पत्व, सत्यकामत्व, सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता आदि को सगुण ईश्वर का कल्याणगुण कहा गया है । निर्गुण ब्रह्म से तात्पर्य है कि वह सकल प्राकृत हेय गुणों से रहित है । इस प्रकार सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादान कारण कहा गया है । ब्रह्म के इसी रूप को विशिष्टाद्वैत वेदान्त ने अपनाया है ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्'[4] इस वाक्य में यह कहा गया है कि प्रथमतः, अद्वितीय सत् ही था । अद्वितीय का अभिप्रायहै कि उसके समान या उससे बढ़कर अन्य कोई नहीं था । इसी को विशिष्टाद्वैती भी मानते हैं । उस ब्रह्म के संकल्पमात्र से यह जगत् उत्पन्न हुआ है ।[5] महोपनिषद् ﴾1/1﴿ में भी

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/7-8.
2. छान्दोग्योपनिषद् 8/1/5.
3. मुण्डकोपनिषद् 1/1/10.
4. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1.
5. तदैक्षतएकोऽहं बहुस्यां प्रजायेति । वही, 6/2/2.

कहा गया है कि प्रथमत: एकमात्र नारायण ही थे 'एको ह वै नारायण आसीत् ।
इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों का तात्त्विक चिन्तन विशिष्टाद्वैत दर्शन के
अनुरूप ही है ।

इसी प्रकार उपनिषदों में विशिष्टाद्वैत सम्मत भक्ति के भी बीज प्रचुर
मात्रा में दिखायी देते हैं । उपनिषदों में सर्वत्र परमपुरुषार्थ ब्रह्म की प्राप्ति कहीं
ज्ञान द्वारा तो कहीं उपासना द्वारा, कहीं त्याग द्वारा और कहीं ध्यान द्वारा
कही गयी है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो भक्ति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है ।[1] इसी
श्रुति में परमात्मा की भक्ति के साथ ही साथ गुरु की 'भक्ति' का भी प्रतिपादन
किया गया है । 'भक्ति' का मूलस्वर अपने 'अहम्' का विसर्जन करके ईश्वर की शरण
में जाना है । इस शरणागति को आचार्य रामानुज भक्ति का अङ्ग और स्वतंत्रोपाय
दोनों मानते हैं । श्वेताश्वतरोपनिषद् में मुमुक्षु के ईश्वर की शरणागति का स्पष्ट
विधान है ।[2]

'भक्ति' का एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण अवयव है ईश्वर की कृपा ।
रामानुज, तथा उसके पूर्व के सभी वैष्णव आचार्य 'प्रसाद' के इस सिद्धान्त के पोषक

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/23.
2. यो ब्रह्माणं विदधातिपूर्व

यो व्रदांश्च प्रहिणोति तन्मे ।

त हं देवमात्मबुद्धिप्रकाशम्

मुमुक्षुर्वैशरणमहं प्रपद्ये ॥ वही, 6/18.

इसके अनुसार ईश्वर की कृपा से भक्ति के मनोरथ की पूर्ति होती है । उक्त ईश्वरीय अनुग्रह का सुस्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् में हुआ है ।[1]

कठोपनिषद् में भी केवलज्ञान आदि का निषेध करके ईश्वरकृपा को ही ईश्वरप्राप्ति में साधन माना गया है ।[2] मुण्डकोपनिषद् ३3/2/3३ में कठोपनिषद् का यही भाव यथावत् कठोपनिषद् के ही शब्दों में निबद्ध है ।

इसी प्रकार उपासना का भी उपनिषदों में बहुशः उल्लेख हुआ है । बृहदारण्यक एवं छान्दोग्योपनिषद् में प्राण, साम, गायत्री और प्रणव आदि अनेक उपासनाओं का वर्णन किया गया है । इन समस्त प्रतीकोपासनाओं में प्रणव अर्थात् ओंकार की उपासना सर्वश्रेष्ठ है । माण्डूक्योपनिषद् में केवल 'प्रणवोपासना' का ही विधान है जिसके अनुसार ओंकार के मात्रक और अमात्रक भेद से दो रूप हैं । मात्रक प्रणव 'अकार' 'उकार' और 'मकार' से मिलकर बना है । इसमें 'अकार' वैश्वानर, 'उकार', तैजस, मकार 'प्राज्ञ' का बोधक है । इन मात्राओं के आश्रय से प्रणवोपासक क्रमशः विश्व, तैजस् और प्राज्ञ को प्राप्त होता है ।[2] उपनिषत्कार के अनुसार

---

1. अणोरणीयान् महतो महीयान्, आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
   तमक्रतुः पश्यति वीतशोकोऽधातुःप्रसादान्महिमानमीशम् ॥ -
   - श्वेताश्वतरोपनिषद् - 3/20.
2. अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
   मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ - माण्डूक्यकारिका 1/23.

मात्रारहित प्रणव को एवंविध जानने वाला उपासक स्वयं आत्मा में स्वतः प्रवेश करता है ।[1] छान्दोग्योपनिषद् में ओंकार का उद्गीथ के रूप में उपासना का विधान है ।[2] इसी उपनिषद् में 'शाण्डिल्य विद्या' का भी विधान किया गया है जिसके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि चक्र के कर्त्ता, पालक और विनाशक ब्रह्म की उपासना ब्रह्मभाव से करनी चाहिए ।[3]

'ध्यान' जिसे परवर्ती काल में प्रतिपादित नवधा भक्ति के अन्तर्गत आने वाले स्मरण का ही एक रूप कहा जा सकता है, का भी विधान उपनिषदों में किया गया है । मुण्डकोपनिषद् में आत्मा का ध्यान प्रणवरूप से करने की बात की गयी है ।[4] इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ईश्वर का ध्यान करने का विधान किया गया है ।[5]

भक्ति का एक आवश्यक उपादान 'श्रद्धा' भी है । श्रद्धा की उपयोगिता के विषय में छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि विज्ञान से युक्त जो कर्म होता है

----

1. अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत
   एवोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद । माण्डूक्यमंत्र ।2.

2. ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । छान्दोग्योपनिषद ।/।/।.

3. वही, 3/14.

4. ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् - मुण्डकोपनिषद् 2/2/6.

5. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/3.

वह श्रद्धा और योग के द्वारा प्रबल हो जाता है ।[1] मुण्डकोपनिषद् में श्रद्धा को भी तप के साथ-साथ अमृत पुरुष अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति का कारण कहा गया है ।[2]

इस प्रकार उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि विशि-ष्टाद्वैत दर्शन के जो बीज वेदों के संहिता भाग, ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यकों में इतस्तत: बिखरे हुए थे, वे बीज उपनिषद् काल में आकर अङ्कुरित होने लगे जो आगे चलकर पल्लवित तथा पुष्पित हुए ।

---------::0::---------

----

1. यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।
- छान्दोग्योपनिषद् 1/1/10.

2. तप: श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्त: ।
सूर्य द्वारेण ते विरज: प्रयान्ति
यत्रामृत: स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ - मुण्डकोपनिषद् 1/2/11.

तृतीय अध्याय

पुराणों में विशिष्टाद्वैत

(क) भागवत पुराण

(ख) विष्णु पुराण

(ग) पद्म पुराण एवं अन्य

भागवत पुराण

रामानुज-पूर्व विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रभव के रूप में भागवत पुराण का अद्वितीय स्थान है । इस पुराण में ब्रह्म, परमात्मा, भगवत् और परमेश्वर आदि में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए विशिष्टाद्वैतमतानुसार उसकी व्याख्या की गयी है। 'भक्ति' का जैसा उत्कर्ष 'भागवतपुराण' में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । भागवत पुराण के विचारों में उच्चकोटि की काव्यात्मकता है किन्तु उसकी शैली अपेक्षाकृत दुरूह है । भागवतपुराण की इतनी प्रशंसा हुई कि तत्काल ही उस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी जिनमें निम्न प्रमुख हैं[1] :-

आत्मप्रिया, कृष्णपदी, अमृतरंगणी, चैतन्य चन्द्रिका, जयमङ्गला, तत्त्व-प्रदीपिका, तात्पर्यचन्द्रिका, तात्पर्यदीपिका, भगवल्लीलाचिन्तामणि, रसमजरी, शुकपक्षीयप्रबोधिनी, जनार्दन भट्ट की टीका, नरहरि की टीका, श्रीनिवास का कल्याण, कल्याण राय की तत्त्वदीपिका, कृष्णभट्ट की टीका, कौर साधु की टीका, गोपालचक्रवर्ती की टीका, चूडामणि चक्रवर्ती की 'अन्वयबोधिनी', नृसिंहाचार्य की 'भावप्रकाशिका', यदुपति की टीका, बल्लभाचार्य की 'प्रबोधिनी', विजयध्वजतीर्थ की पदरत्नावली, बिठ्ठलदीक्षित की टीका, विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारार्थदर्शिनी, विष्णुस्वामी की टीका वीरराघव की 'भागवत-चन्द्रिका', शिवराम की 'भावार्थ दीपिका', केशवदास की स्नेहपुराणी श्रीरामाचार्य की टीका, सत्याभिनव तीर्थ की

----

1. भारतीय दर्शन का इतिहास - डॉ0 एस0एन0दास गुप्त, अध्याय 24, पृष्ठ 1.

टीका, सुदर्शनसूरि की टीका, ब्रजभूषण की टीका, भागवतपुराणार्कप्रभाबल्लभाचार्य की 'पंचमस्कन्ध टीका' बालकृष्णयति की सुबोधिनी, सनातन गोस्वामी की वैष्णवतोषिणी वासुदेव की 'बुधर जनी' बिट्ठलदीक्षित का 'निबन्धप्रकाश' बल्लभाचार्य की अनुक्रमणिका । इसके अतिरिक्त 'भागवत पुराण' पर कई अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये हैं । इनमें से कुछ ग्रन्थ रामानन्दतीर्थ प्रियदास, विश्वेश्वर, पुरुषोत्तम, श्रीनाथ, वृन्दावन गोस्वामी, विष्णुपुरी और सनातन के द्वारा प्रणीत हैं ।

श्रीमद्भागवत पुराण में ब्रह्म, परमात्मा, भगवत् और परमेश्वर आदि को परम सत् के रूप में व्याख्यायित किया गया है । श्रीकृष्ण इसी परमसत् के अपर पर्याय हैं । इन्हें नारायण, विष्णु, वासुदेव इत्यादि नामों से भी पुकारा जाता है । भागवत् के प्रारम्भिक श्लोकों में इन्हीं वासुदेव कृष्ण की परमसत के रूप में आराधना की गयी है कि जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, जो समस्त सद्रूप पदार्थों में अनुगत है और असत् पदार्थों से पृथक है, जड़ नहीं चेतन है, परतन्त्र नहीं स्वयंप्रकाश है, जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं प्रत्युत उन्हें अपने सड्कल्प से ही जिसने उस वेद ज्ञान का दान किया है, जिसके सम्बन्ध में अन्य बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियों में जल का भ्रम होता है वैसे, यह त्रिगुणात्मिका सृष्टि मिथ्या होते हुए भी अधिष्ठान सत्ता से सत् प्रतीत हो रही है उस अपनी स्वयं प्रकाश ज्योति से सर्वदा सर्वथा माया और माया कार्य से पूर्णत: मुक्त रहने वाले परमसत्य रूप परमात्मा का हम ध्यान करते हैं ।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में माया को ब्रह्म/ईश्वर की सत् शक्ति माना गया है अत: इस माया से उत्पन्न जगत् भी सत् है । इसी प्रकार भागवतपुराण में भी कहा

गया है कि सत् ब्रह्म की मायासे यह जगत् उत्पन्न हुआ है और उस जगत् में ब्रह्म अनुस्यूत है, इसलिए जगत् भी सत् है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि 'तत् सृष्ट्वा तमेवानुप्राविशत्' अर्थात् उसकी सृष्टि करके उसी में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार ब्रह्म के जगत् का अन्तर्यामी होने के कारण जगत् की सत्ता सिद्ध है। उसके यथार्थ स्वरूप में माया गौण हो जाती है अतएव ब्रह्म शुद्ध चैतन्य के रूप में अपनी विशुद्ध कैवल्यता में स्थित रहता है। श्रीधर अपने भाष्य में निर्देश करते हैं कि परमेश्वर की 'विद्या' और अविद्या नामक दो शक्तियाँ हैं। अपनी 'विद्या' शक्ति से ईश्वर शाश्वत विशुद्ध आनन्द व सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् रूप से अपने निजी यथार्थ रूप में अपनी स्वयं की मायाशक्ति को नियन्त्रित करता है।

'भागवतपुराण' में विशिष्टाद्वैत दर्शन की भाँति यह कहा गया है कि 'ईश्वर', 'जीव' का अन्तर्यामी है। परमेश्वर अपने स्वरूप में पूर्णतया निराकार शुद्ध चैतन्य है, अपनी चिच्छक्ति के द्वारा तो वह जीवों को स्वयं में धारण करता है और अपनी अचिच्छक्ति के द्वारा वह भौतिक जगत् का भ्रम फैलाकर उसे जीवों से विविध अनुभवों के लिए उनसे सम्बन्धित करता है। इस प्रकार ब्रह्म या ईश्वर जैसा कि विशिष्टाद्वैत का मत है, चिदचिद् विशिष्ट है।[1]

---

1. अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदम् अखिलं ततम्।
   चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः॥

   – श्रीमद्भागवतमहापुराण 7/3/34.

भागवतपुराण के टीकाकार जीवगोस्वामी, रामानुज दर्शन किंवा विशिष्टा-द्वैत दर्शन के कुछ आधारभूत दर्शन का इस सिद्धान्त के पक्ष में अनुसरण करते हैं कि परम सत्ता ब्रह्मन् निराकार एवम् निर्गुण नहीं वरन् अपनी शक्तियों व गुणों को धारण किए हुए एक गुणविशिष्ट सत्ता है । इस मत को सिद्ध करने के प्रयत्न में जीव गोस्वामी रामानुज की प्रमुख उक्ति का संक्षेप में अनुसरण करते हैं परन्तु जीव गोस्वामी यह विचार प्रस्तावित करते हैं कि परम सत्ता गुणों व शक्तियों का सम्बन्ध तर्कातीत है, तार्किक आधार पर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती । इस प्रकार एक रहस्यमय ढंग से शक्तियाँ परमसत्ता से भिन्न होती हुई भी उससे एक रूप हैं । फलत: परमसत्ता की मानवीय आकृतियों, वस्त्रों, आदि सहित स्थूल परमेश्वर के रूप में भी वह उसी काल में ब्रह्मन् के रूप में अपने अपरिवर्तनशील अस्तित्व में परिवर्तनशील रहती है ।

'भागवतपुराण' में जीव के स्वरूप के विषय में यह कहा गया है कि जीव स्वचैतन्य है । यही स्वरूप विशिष्टाद्वैतदर्शन में भी जीव का माना गया है । भागवतपुराण के टीकाकार जीवगोस्वामी कहते हैं कि जीव शुद्ध चैतन्य नहीं है, किन्तु ऐसी सत्ताएँ हैं जो 'अहम् (मैं)' के रूप में 'स्वचैतन्य' के लक्षण से सम्पन्न हैं । जीवों को किसी भी अवस्था में परमात्मा से एकरूप नहीं मान सकते तथा प्रत्येक जीव अन्य प्रत्येक जीव से भिन्न है :-

'तस्मात् प्रतिक्षेत्रं भिन्न एव जीव: ।'

---

1. 'सर्वसंवादिनी' - पृष्ठ संख्या 87.

यही बात यामुनाचार्य ने भी एवंविध कही है :-

देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योऽन्योऽनन्य साधनः ।
नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नस्वतःसुखी ॥[1]

अर्थात् आत्मा या जीव शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, ज्ञान आदि आदि से भिन्न स्वतःसिद्ध, नित्य, सर्वव्यापी, प्रतिशरीर भिन्न, स्वयं प्रकाश तथा सुखस्वरूप है ।

विशिष्टाद्वैत के अनुरूप ही 'भागवतपुराण' में भी जीव को अणु परिमाण वाला बताया गया है । जीवगोस्वामी कहते हैं कि ये जीव अणुपरिमाण वाले हैं, अतएव निरवयव हैं । आणवीय जीव हृदय में स्थित रहता है जहाँ से वह अपने चैतन्य गुण द्वारा सम्पूर्ण शरीर में उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे चन्द्रन अपनी मधुरगंध द्वारा सम्पूर्ण पड़ोस में व्याप्त हो जाता है । इसी प्रकार जीव अणुपरिमाण वाले हैं किन्तु जिन शरीरों में वे स्थित हैं उनमें अपनी चेतनशक्ति से परिव्याप्त हो जाते हैं । चैतन्य जीव का गुण कहा जाता है क्योंकि वह सदैव उसी पर आश्रित रहता है तथा उसके उद्देश्य को सम्पादित करता है :-

"नित्यं तद् आश्रयत्व तच्छेषत्व निबन्धनः ।"[2]

अतः जीव परमात्मा से उत्पन्न होते हैं और सदा उसके पूर्ण नियंत्रण में रहते हैं तथा

---

1. सिद्धित्रय, कारिका 3, पृष्ठ 17.

2. वही, पृष्ठ 94.

उससे परिव्याप्त रहते हैं । इसी कारण परमेश्वर को जीवों की भिन्नता में परमात्मा कहा जाता है । जीव परमात्मा से विकीर्णरश्मियों के समान है, अतएव सदा उस पर पूर्णतया आश्रित रहते हैं तथा उसके बिना अस्तित्व नहीं रख सकते ।[1]

भागवतपुराण में सृष्टि-प्रक्रिया के बारे में उल्लेख है कि एक समय नारदजी ने अपने मानसपिता ब्रह्माजी से यह प्रश्न किया कि हे पिताजी ! इस संसार का क्या लक्षण है ? इसका आधार क्या है ? इसका निर्माण किसने किया है ? इसका प्रलय किसमें होता है ? यह किसके अधीन है, और वास्तव में यह है क्या वस्तु ? कृपा करके आप इस तत्त्व को बताइए जिससे मुझे तत्त्व का साक्षात्कार हो सके ।[2] इस प्रश्न से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीमन्नारायण (कृष्ण) की वन्दना करते हुए नारद से बताया कि भगवान् ने एक से बहुत होने की इच्छा[3] होने पर अपनी माया से अपने स्वरूप में स्वयं प्राप्त काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार कर लिया । भगवान् की शक्ति से ही काल ने तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न कर दिया । स्वभाव ने उन्हें रूपान्तरित कर दिया और कर्म ने महत् तत्त्व को जन्म दिया । रजोगुण तथा तमोगुण की वृद्धि से महत् तत्त्व में जो विकार उत्पन्न हुआ उससे ज्ञानक्रिया और द्रव्य रूप तमः प्रधान विकार उत्पन्न हुआ जो अहंकार कहलाया और विकार को प्राप्त होकर वैकारिक, तैजस और तामस - तीन प्रकार का हो गया । वे क्रमशः ज्ञानशक्ति

---

1. तदीयरश्मिस्थानीयत्वेऽपि नित्यतद आश्रयित्वात् तद्व्यतिरेकेण अतिरेकात् ।
   - षट् सन्दर्भ, पृष्ठ 233.
2. श्रीमद्भागवतमहापुराण 5/2/1-2.
3. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति' - छान्दोग्योपनिषद् ।

क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्ति प्रधान हैं । जब पंचमहाभूतों के कारण भूत तामस अहंकार में विकार हुआ तब आकाश की उत्पत्ति हुई । आकाश की तन्मात्रा और गुण शब्द हैं । इस शब्द के कारण ही द्रष्टा और दृश्य का बोध होता है । जब आकाश में विकार हुआ तब स्पर्शवान् वायु की उत्पत्ति हुई इसमें शब्द गुण भी है । काल, कर्म और स्वभाव से वायु में भी विकार हुआ तथा तेजस् की उत्पत्ति हुई । इसमें शब्द स्पर्श और रूप गुण हैं । रूप प्रधान गुण है । तेज में विकार होने पर जल की उत्पत्ति हुई इसका गुण रस है किन्तु शब्द, स्पर्श रूप भी इसमें हैं । जल के विकार से पृथिवी की सृष्टि हुई । इसका गुण है गन्ध किन्तु कारण तत्त्वों के गुण-शब्द स्पर्श, रूप, रस भी इसमें हैं । वैकारिक अहंकार से मन की और इन्द्रियों के दस अधिष्ठातृ देवों की भी उत्पत्ति हुई । उनके नाम हैं :- दिक्, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति । तैजस अहंकार के विकार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण - ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ प्रादुर्भूत हुईं । एक साथ ही ज्ञानशक्ति रूप बुद्धि और क्रियाशक्ति, रूप, प्राण भी तैजस अहंकार से ही उत्पन्न हुए ।[1] जिस समय ये पाँच भूत, इन्द्रिय, मन और सत्त्व आदि तीनों गुण परस्पर संगठित नहीं थे तब अपने रहने योग्य भोगों के साधनभूत शरीर की रचना नहीं कर सके । जब भगवान् ने इन्हें अपनी शक्ति से प्रेरित किया तब वे तत्त्व परस्पर एक दूसरे के साथ मिल गए और आपस में कार्य कारण भाव स्वीकार करके व्यष्टि-समष्टि रूप पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों की रचना की । वह ब्रह्माण्ड रूप अण्डा एक सहस्र वर्ष तक जल में पड़ा रहा

---

1. श्रीमद्भागवतपुराण, 6/2, श्लोक 21-33.

फिर काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार करने वाले भगवान् ने उसे जीवित कर दिया। उस अण्डे को फोड़कर उसमें से वही विराट् पुरुष निकला जिसकी जङ्घा, चरण, भुजाएँ, नेत्र, मुख और सिर सहस्त्रों की संख्या में हैं । विद्वान् पुरुष उसी के अङ्गों में समस्त लोक और उसमें रहने वाली वस्तु की कल्पना करते हैं ।[1] इस प्रकार भागवतपुराण का सृष्टि वर्णन विशिष्टाद्वैत दर्शन तथा सांख्य दर्शन के अनुरूप ही है ।

रामानुज के पूर्व विशिष्टाद्वैत-सम्मत मुक्ति के साधनभूत 'भक्ति' का विकसित रूप हमें पुराणों में देखने को मिलता है । भक्ति की दृष्टि से श्रीमद् भागवत महापुराण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । श्रीमद्भागवत के अनुसार व्यक्ति के जीवन का परम कर्त्तव्य ‹धर्म› भगवान् श्रीकृष्ण में निर्हेतुकी विक्षेपरहित भक्ति है ।[2] भक्ति से बढ़कर प्राणी के लिए प्राप्य और कुछ दूसरा नहीं है । सच्चा भगवद्भक्त, भक्ति के अतिरिक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य अथवा सायुज्य नामक मुक्ति की भी कामना नहीं करता ।[3]

श्रीमद् भागवत् भक्ति के साधनों का भी विधान करता है । भागवतकार के अनुसार दान, व्रत, तप, हवन, जप, स्वाध्याय और दूसरी अन्य योग्यताओं

---

1. भागवत् पुराण 5/2, श्लोक 32-36.
2. सवै पुंसां परो धर्मः यतो भक्तिरधीक्षजे ।
   अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥ - श्रीमद्भागवतपुराण 1/2/6.

3. अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।
   सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत: ॥
   दीयमानं न गृह्णन्ति विनामत्सेवनं जनाः ॥ - वही, 3/29/12-13.

{श्रेयोभिः} द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति साध्य है ।[1]

'भक्ति' का स्वरूप ईश्वर {श्रीकृष्ण} के प्रति अनन्यत्व है । पूर्वोक्त साधनों के अतिरिक्त भी किसी प्रकार, किसी भी भाव से ईश्वर में चित्त का लगाना ही भक्ति है । भागवतकार के अनुसार ईश्वर के प्रति प्राणी का भाव स्नेह पुरस्सर ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है । गोपियों का कामभाव से, कंस का भयभाव से, शिशुपाल का द्वेषभाव से और गोपों का सम्बन्धभाव से श्रीकृष्ण का ध्यान और उसके परिणामस्वरूप उन सबका मुक्त होना यही सिद्ध करता है ।[2] भक्त के भाव का नहीं अपितु भक्तियोग से भक्त की ईश्वराधना का ही महत्त्व है । भक्त चाहे कामना रहित हो या समस्त कामनाओं से युक्त अथवा मुमुक्षु हो, उसे ईश्वर की भक्तियोग द्वारा आराधना करनी ही चाहिए ।[3] भागवतकार का तो यहाँ तक मत है कि वैरभाव से व्यक्ति जितना तन्मय हो जाता है उतना भक्तियोग से नहीं ।[4]

---

1. दानव्रत तपो होम जपस्वाध्याय संयमैः ।
   श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥"- भागवतपुराण 10/47/24.

2. वही, 7/1/29.

3. अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
   तीव्रेण भक्तियोगेन ब्रजेत् पुरुषं परम् ॥ वही, 2/3/10.

4. यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।
   न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चितामतिः॥

   - वही 7/1/26.

श्रीमद्भागवत के अनुसार भक्तियोग व्यक्ति के जीवन का मुक्ति से बढकर[1] परमसाध्य ही नहीं अपितु वैराग्य और ज्ञान का साधन भी है ।[2]

श्रीमद्भागवतकार 'भक्ति' को त्रिधा विभक्त करते हैं । साधकों के स्व-भावगत गुणों के वैभिन्य के आधार पर भक्ति तामस, राजस और सात्विक के भेद से तीन प्रकार की हुई है ।[3] भागवत् के अनुसार समस्त कर्मों को ईश्वरार्पित करके निष्कामभाव से कर्तव्यबुद्धि के द्वारा भेददृष्टि अवलम्बन ग्रहण करके जो भक्ति की जाती है, वह सात्त्विकभक्ति कही जाती है । विषयों का ध्यान करके यश,ऐश्वर्य आदि के लिए भेद, बुद्धि से की जाने वाली भक्ति राजसभक्ति है । तामसभक्ति उसे कहते हैं जो हिंसा, दम्भ, अथवा ईर्ष्या आदि के वशीभूत होकर भेद-बुद्धि से की जाती है ।

उपर्युक्त तीन प्रकार के भक्तियोग की चर्चा गुणों के आधार पर भेदवादियों की दृष्टि से की गयी है । इसके अतिरिक्त भागवतपुराण में 'निर्गुणभक्ति का भी विधान है । भागवत के अनुसार सर्वान्तर्यामी ईश्वर के गुणश्रवण के द्वारा उत्पन्न

---

1. अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।

- भागवतपुराण 3/25/33.

2. वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशुवैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥ वही, 1/2/7.

3. वही, 3/29/8-10.

समुद्र में समाहित गंगाजल के समान अविच्छिन्न, अहैतुक और विक्षेपरहित भक्ति 'निर्गुण भक्ति' है ।[1] श्रीमद्भागवत एक अन्य स्थल पर भक्तों को भी उनके ध्येय के आधार को उत्तम, मध्यम व प्राकृत के भेद से तीन कोटियों में विभक्त किया गया है ।

इसके अतिरिक्त भागवतपुराण में भक्ति के स्वरूप के आधार पर स्मरण, कीर्तन, श्रवण, पादसेवन, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण के भेद से नवकोटियों में विभाजित किया गया है ।[2]

श्रीमद्भागवत वर्णित उपर्युक्त भक्ति को परवर्ती आचार्यों ने 'विहित' और अविहित के भेद से द्विधा विभक्त किया है । शास्त्रीय भक्तियोग को विहित और 'कामादि' अन्य भक्ति को 'अविहित' भक्ति माना है । वस्तुतः आचार्य रामानुज के अनुसार भक्ति का प्राणतत्त्व है प्रेम । इनके अनुसार भागवत प्रतिपादित ईर्ष्या और द्वेषादिजन्य अविहितभक्ति, प्रेम, और श्रद्धामूलक न होने से भक्ति नहीं हो सकती । इसी पक्ष का समर्थन परवर्ती अद्वैतवादी आचार्य मधुसूदन सरस्वती भी करते हैं ।[3]

---

1. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
   मनोगतिरविच्छिन्ना यथागङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
   लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतः ॥

   - भागवतपुराण, 3/29/11-12.

2. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
   अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
   इति पुंसार्पिता विष्णोः भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
   क्रियते भगवत्यद्धातन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥ वही, 7/5/23-24.

विष्णुपुराण

भागवतपुराण के पश्चात् वैष्णवपुराणों में विष्णुपुराण का सर्वाधिक महत्व है । इसमें विशिष्टाद्वैत दर्शन के तत्त्व भरे पड़े हैं या कहें यह विशिष्टाद्वैतपरक पुराण है । इसमें भी भगवान् 'विष्णु' की लीलाओं का वर्णन है । 'विष्णु' किसे कहते हैं ? इसे विष्णुपुराण में प्रह्लादमुखेन इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है :-

न शब्दगोचरं यस्य योगिध्येयं परम् पदम् ।
यतो यश्च स्वयं विश्वं स विष्णु:परमेश्वर:।। - विष्णुपुराण, 1/17/22

अर्थात् योगियों के ध्यान करने योग्य जिसका परमपद वाणी का विषय नहीं हो सकता तथा जिससे विश्व प्रकट हुआ है और जो स्वयं विश्वरूप है वह परमेश्वर ही 'विष्णु' है ।

'विष्णुपुराण' के अनुसार 'ब्रह्म' की पहली अभिव्यक्ति पुरुष माना गया है, द्वितीय स्थान पर व्यक्त, अव्यक्त तथा काल का स्थान है । प्रधान, व्यक्त और काल का मूल कारण विष्णु ही हैं ।[2] इन्हीं को नारायण[3] भी कहते हैं ।

---

1. भक्ति रसायन, पृष्ठ संख्या 158-59.

2. प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत् ।
   पश्यन्ति सूरय: शुद्धं तद्विष्णो: परमं पदम्।। विष्णुपुराण 1/2/16.

3. आपो नारा: इति प्रोक्ता: आपा वै नरसूनव: ।
   अयनं तस्य ता: पूर्वम् तेन नारायण स्मृत: ।। मनुस्मृति 1/10

विष्णुपुराण में कहा गया है कि परम सत् शुद्ध सत्ता है जो केवल नित्य सत्ता की स्थिति है । वह सर्वत्र है और सब कुछ है इसलिए इसे वासुदेव कहा गया है ।[1] वह निर्मल है क्योंकि उसमें कोई बाह्यवस्तु नहीं है जिसे फेंक दिया जा सके, वह हेय गुणों से रहित है ।[2] यह विशिष्टाद्वैतसम्मत निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या है ।

विष्णुपुराण में भी 'सृष्टिक्रम' का लगभग वही क्रम प्राप्त होता है जो भागवत या विशिष्टाद्वैत दर्शन में है । विशिष्टाद्वैत दर्शन में भी इस सृष्टि को ईश्वर की लीलामात्र माना गया । उसी तरह ही विष्णुपुराण में भी कहा गया है कि प्रधान, पुरुष, व्यक्त तथा काल ये चार रूप ﴾भगवान् विष्णु के रूप﴿ पृथक् पृथक् संसार की उत्पत्ति, स्थिति, तथा विनाश के प्रकाश तथा उपादान कारण है । भगवान् वि ष्णु जो व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और कालरूप से स्थित होते हैं इसे उनकी बालक्रीडा ही समझना चाहिए ।[3]

विष्णुपुराण में ब्रह्म को ही 'प्रकृति' कहा गया है । इसी ब्रह्मरूपा प्रकृति से जगत् की सृष्टि हुई ।[4] इस प्रकार यह 'प्रकृति' ब्रह्म के अपर नाम से ख्यात

---

1. सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
   ततः वा वासुदेवेति विद्वद्भिःपरिपाठ्यते ॥ विष्णुपुराण 1/2/12.

2. तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम् ।
   एकस्वरूपं तु सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥ वही, 1/2/13.

3. वही, 1/2/17-18.

4. अव्यक्तं कारणं यत् प्रधानमृषिसत्तमैः ।
   प्रोच्यते प्रकृतिःसूक्ष्मानित्यं सदसदात्मकम् ॥ वही, 1/2/19.

हुई । सांख्य आदि में तो प्रकृति को जड़ माना गया है किन्तु विष्णुपुराण में प्रकृति को ब्रह्म, प्रधानपुरूष आदि नामों से जाना गया । इसी प्रधान पुरूष, ब्रह्म से इस जगत् की सर्जना हुई । इसी 'ब्रह्मपरिणामवाद' को विशिष्टाद्वैत दर्शन में भी मान्यता मिली है । विष्णुपुराण में कहा गया है कि उस प्रलयकाल में न दिन था, न रात्रि थी, न आकाश था, न पृथिवी थी, न अन्धकार, न प्रकाश था और न इनके अतिरिक्त कुछ और ही था । बस श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा बुद्धि आदि का अविषय एक प्रधान ब्रह्म व पुरूष ही था ।[1]

सर्गकाल उपस्थित होने पर उन परब्रह्म परमात्मा ने अपनी इच्छा से विकारी प्रधान और अविकारी पुरूष में प्रविष्ठ होकर उनको क्षुब्ध किया । जिस प्रकार क्रियाशील न होने पर भी गन्ध अपनी सन्निध मात्र से मन को क्षुभित कर देता है उसी प्रकार परमेश्वर अपनी सन्निधि मात्र से ही प्रधान और पुरूष को प्रेरित कर देते हैं । वे परमेश्वर ही वस्तुतः इन्हें क्षोभित करने वालेहैंऔर वे ही क्षुब्ध होते हैं तथा संकोच ‡साम्य‡ और विकास को प्राप्त होते हैं । ब्रह्मादि समस्त ईश्वरों के ईश्वर वे विष्णु ही समष्टि व्यष्टि रूप ब्रह्मादि जीवरूप तथा महत् तत्त्व रूप से स्थित हैं ।[2] इस प्रकार भागवत पुराण या सांख्यमतानुसार सृष्टि का क्रम विष्णुपुराण

---

1. नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिः
   नासीत्तमोज्योतिरभूच्च नान्यत् ।
   श्रोत्रादि बुद्ध्यानुपलभ्यमेकं
   प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥- विष्णुपुराण 1/2/23.

2. वही, 1/2/28-32.

में भी दर्शित है । अन्तिम रूप से भगवान् विष्णु ही जगत् के निमित्तोपादान कारण हैं ।[1] यही मत विशिष्टाद्वैतियों का भी है कि यह जगत् विष्णु भगवान् की लीला का फल है ।

'भक्ति' की जो धारा विशिष्टाद्वैतदर्शन में अपने उत्कर्ष पर परिलक्षित होती है, वह धारा विष्णुपुराण में भी सतत प्रवाहित होती दिखायी देती है । प्रह्लाद की अव्यभिचारिणी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् नृसिंह जब वरदान माँगने को कहते हैं तो प्रह्लाद प्रत्येक योनि में कभी स्खलित न होने वाली भक्ति को ही वरस्वरूप माँगते हैं ।[2] नृसिंह से भक्ति को वरदान के रूप में माँगने से ही सुस्पष्ट है कि सच्चे भक्त के लिए सर्वोच्च प्राप्य मुक्ति नहीं 'भक्ति' है । भक्ति का स्वरूप क्या है ? इसे प्रह्लाद स्वयं स्पष्ट करते हैं । प्रह्लाद कहते हैंकि अविवेकीजनों की जिस प्रकार की अविचल प्रीति विषयों में होती है उसी प्रकार की प्रीति मेरी आपके प्रति हो ।[3] विष्णुपुराण के अनुसार मुक्ति यद्यपि भक्त के लिए काम्य नहीं होती

----

1. स एव सृज्यः स च सर्गकर्ता
   स एव पात्यत्ति च पाल्यते च ।
   ब्रह्माद्यवस्थाभिरशेषमूर्ति-
   र्विष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः ।। विष्णुपुराण 1/2/70.

2. वही, 1/20/17-18.

3. या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
   त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ।। - वही, 1/20/29.

किन्तु उसे वह अनचाहे प्राप्त होती है । प्रह्लाद ने स्वयं मुक्ति को भक्त के हाथों में स्थित कहा है ।[1] भगवान् नृसिंह स्वयं प्रह्लाद के इस वचन को न माँगने पर उसे मुक्ति प्रदान करके पुष्ट करते हैं ।[2]

पद्मपुराण एवं अन्य

पद्मपुराण में भी परमतत्व को नारायण या वासुदेव के नाम से जाना गया है । इन्हीं वासुदेव से यह समस्त दृष्यमान् जगत् उत्पन्न हुआ है, इन्हीं में स्थित है और इन्हीं में लीन (लय को प्राप्त) भी है ।

विशिष्टाद्वैतसम्मत भक्ति का बीज 'पद्म' पुराण में परिलक्षित होता है । इसमें भक्ति का विशद विवेचन किया गया है । पद्म पुराण के अनुसार भक्ति सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने वाली और मुक्ति प्रदान करने वाली है ।[3] भक्ति के अनेक भेद पद्मपुराण में किये गये हैं । सर्वप्रथम भक्ति मानसी, वाचिकी और कायिकी के रूप में बाँटी गयी हैं ।[4] इसके बाद उसे लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक भेदों के आधार

---

1. धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिर्यस्य करे स्थिता ।
   समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि ॥ विष्णुपुराण 1/20/27.

2. यथा त्वं मत्प्रसादेन निर्वाणं परमवाप्स्यसि । वही, 1/20/28.

3. पद्मपुराण 5/85/3.

4. वही, 5/85/4.

पर विभक्त किया गया है ।[1] आध्यात्मिक भक्ति को सांख्यजा और योगजा के रूप में पुनः विभक्त किया गया है ।[2] इन भेदों के अतिरिक्त भक्ति को सात्त्विकी, राजसी और तामसी के रूप में भी विभक्त किया गया है ।[3]

शिवपुराण में भी विशिष्टाद्वैतसम्मत भक्ति का बीज परिलक्षित होता है। इसमें माहेश्वर भक्ति का वर्णन है । शिवपुराण भी भक्ति को मुक्ति का साधन मानता है ।[4] शिवपुराण के अनुसार भक्ति केवल एक जन्म में किए गए कर्मों से नहीं अपितु हजारों जन्मों में किए गए सुकृत के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है ।[5] भक्ति के उत्पन्न होने का एक कारण भगवान् का प्रसाद भी है ।[6] शिवपुराण सेवा को भी भक्ति मानकर उसे मानस वाचिक और कायिक के रूप में तीन भागों में विभक्त करता है । इसके अतिरिक्त सेवारूप भक्ति को तप, कर्म, ध्यान और ज्ञान के भेद से पंचधा

---

1. लौकिकी वैदिकी चापि भवेदाध्यात्मिकी तथा । पद्मपुराण 5/85/5
2. सांख्यैः कृता भक्तिरेषा भक्तिराध्यात्मिकी स्मृता ।
   योगजामपि ते भूप श्रृणुभक्तिं वदामि ते ॥ वही, 5/85/25.
3. एवं भक्तिः समुद्दिष्टा त्रिविधाः नृपनन्दन ।
   सात्त्विकी राजसी चैव तामसी भेदतस्त्विमाः ॥ - वही 5/85/30.
4. अन्ते भक्तिं परां मुक्तिं वै प्राप्नुयान्नरः । - शिवपुराण, 1/78/58.
5. सहस्रजन्मपर्यन्तं तपोदानव्रतादिकम् ।
   कृतं पूर्वं भवेच्चेदं शिवे भक्तिःप्रजायते॥ - वही, 1/78/35.
6. प्रसाद-पूर्विका येयं भक्तिःमुक्ति-विधायिनी ।
   नैवं सा शक्यते प्राप्तुं नरैणैकेन जन्मना ॥ वही, 5/8/28.

विभक्त किया गया है ।[1] इसी प्रकार मत्स्यपुराण में भीभक्ति को संसार के बन्धन को नष्ट करने वाली और मोक्ष साधनभूत कहा गया है ।[2]

नारदीय पुराण भी वैष्णव पुराण है । इसमें नारायण को परम सत् माना गया है । परम् सत् को महाविष्णु कहा गया है ।[3] वह अपनी विशिष्ट शक्ति द्वारा जगत् की रचना करता है ।[4] जब जगत् को विष्णु से पृथक् देखा जाता है तो यह अविद्यागत दृष्टि के कारण होता है और ज्ञान या विद्या से यह भेद नष्ट हो जाता है ।[5] वस्तुत: जगत, जीव, विष्णु से अपृथक् सिद्ध हैं । यही मत आगे चलकर विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में सुदृढ़ हो सका । इसमें अन्तिम सत्ता वासुदेव की मानी गयी है जो परम ध्येय और परम ज्ञान है ।[5] नारदीय पुराण के द्वितीय अध्याय में भक्ति का उल्लेख श्रद्धा अर्थ में आया है और इसे जीवन के सभी कर्मों के लिए आवश्यक समझा गया है ।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशिष्टाद्वैत के सभी सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप में पुराणों में विद्यमान हैं, विशेषकर भागवतपुराण और विष्णुपुराण में । ये पुराण तो मानो भक्तिशास्त्र ही हों जिनमें भक्ति के सभी अङ्गों का विधान किया गया है ।

---

1. शिवपुराण 5/8/26-27
2. भक्तिभवभेदकरी मोक्षाय विनिर्मिता नाथ । मत्स्यपुराण 192/42.
3. नारदीयपुराण 1/3/6.
4. वही, 1/3/7-9.
5. वही, 1/3/80.
6. वही, 2/4.

चतुर्थ अध्याय

इतिहास ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत

(क) रामायण

(ख) महाभारत

रामायण

पुराणों के पश्चात् रामायण और महाभारत जैसे इतिहासग्रन्थों में विशिष्टाद्वैतवेदान्त के तत्त्व परिलक्षित होते हैं । रामायण तथा महाभारत भारतीय जनमानस में अत्यधिक समादृत ऐतिहासिक महाकाव्य हैं । बाल्मीकि के 'आदिकवि' होने से उनके द्वारा प्रणीत 'रामायण' की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है । वाल्मीकि-रामायण के अतिरिक्त अध्यात्मरामायण तथा वसिष्ठरामायण भी आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । अध्यात्मरामायण तो पूर्णतः अध्यात्मग्रन्थ ही है । इसमें वाल्मीकि रामायण से कहीं अधिक आध्यात्मिकता का दर्शन होता है । इन रामायणकाव्यों में विशिष्टाद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त भरे पड़े हैं ।

बाल्मीकि रामायण में राम को परब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसमें कहा गया है कि भगवान् विष्णु ही देवकार्य हेतु राम के रूप में अवतरित हुए थे ।[1] इसमें राम को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बताते हुए उनकी आराधना की गयी है ।[2] रावण से हनुमान् और राम के प्रभाव का वर्णन राम की सर्वशक्तिमत्ता का द्योतक है ।[3] अध्यात्मरामायण में भी राम को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति

---

1. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 18/26.

2. जगत्सृष्ट्यन्तकर्तारमजमव्यक्तरूपिणम् ।
   आधारं सर्वलोकानामाराध्यं परमं गुरूम् । वही, उत्तरकाण्ड 6/2.

3. सर्वभूतान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान् ।
   पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो राम:महायशा:॥ वही, सुन्दरकाण्ड 51/39.

और लय का कारण बताते हुए उन्हें माया से युक्त होने पर भी माया से असंपृक्त, आनन्दघन, स्वयं प्रकाशरूप तथा समस्त उपाधिकृत हेय दोषों से रहित बताया गया है[1] जो विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त से मिलता जुलता वर्ण है ।

वाल्मीकिरामायण में यद्यपि विशिष्टाद्वैतसम्मत भक्ति का प्रत्यक्षतः व्याख्यान नहीं है, किन्तु भक्ति के अवयवों की चर्चा पर्याप्तरूप से विद्यमान है । यज्ञ, स्वाध्याय, तप, जप, व्रत आदि का अनेकशः उल्लेख हुआ है । भक्ति के आवश्यक उपादानों में शरणागति अन्यतम है । भगवान् राम विभीषण के शरण में आने पर कहते हैं कि मैं एक बार भी शरण में आए हुए व्यक्ति को अभय प्रदान करता हूँ -

> सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
> अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
>
> - वाल्मीकिरामायण 6/18/33।

अध्यात्मरामायण तो जैसे भक्तिशास्त्र ही है । इसमें भी भक्ति के विभिन्न अवयवों की बहुत चर्चा हुई है । इसमें त्रिगुणों पर आधृत भक्ति के तीन भेद बताए गए हैं ।[2]

---

1. विश्वोद्भवस्थितिलयादिषु हेतुमेकं
   मायाश्रयं विगतमायमचिन्त्यरूपम् ।
   आनन्दसान्द्रममलं निजबोधरूपं
   सीतापतिं विदिततत्त्वमहं नमामि ॥ - अध्यात्मरामायण 1/1/2.

2. भक्तिर्विधते मातस्त्रिविधा गुणभेदतः ।
   स्वभावो यस्य यस्तेन तस्यभक्तिर्विधते॥ - वही, 7/7/60.

तामसभक्ति, राजसभक्ति और सात्त्विकभक्ति । भगवान् राम कहते हैं कि मेरे प्रति जो अहैतुकी और अखण्ड भक्ति उत्पन्न होती है । वह साधक को सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य चार प्रकार की मुक्ति देती है किन्तु उसके देने पर भी वे भक्तजन मेरी सेवा के अतिरिक्त और कुछ ग्रहण नहीं करते ।[1] विशिष्टाद्वैत वेदान्त भी मुक्ति के इसी क्रम को मान्यता देता है । अध्यात्मरामायण में शबरी प्रसंग में राम ने नव प्रकार की भक्ति का वर्णन किया है ।[2] भक्ति को ही मुक्ति का मार्ग बतलाते हुए अध्यात्मरामायण में कहा गया है कि भक्तिरूप अमृत के विना स्वप्न में भी मोक्ष नहीं हो सकता तथा जो व्यक्ति भक्तिसम्पन्न हैं वे निश्चय ही मुक्त हैं ।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य रामानुजपूर्व विशिष्टाद्वैत वेदान्त के तत्त्व रामायणग्रन्थों में अनेकशः परिलक्षित होते हैं । इन्हीं तत्त्वों को उपबृंहित करके विशिष्टाद्वैतवेदान्त का साम्प्रतिक कलेवर इतना विशद एवं विस्तृत बन पाया है ।

---

1. अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिर्मयि जायते ।
   सा मे सालोक्यसामीप्यसार्ष्टिसायुज्यमेव वा ।
   ददात्यपि न गृह्णन्ति भक्ता मत्सेवनं विना।। - अध्यात्मरामायण 7/7/65-66.

2. वही, 3/10/22-27.

3. अतस्त्वद्भक्तिसम्पन्ना मुक्ता एव न संशयः ।
   त्वद्भक्त्यमृतहीनानां मोक्षः स्वप्नेऽपि नो भवेत् ।। वही, 3/3/35.

महाभारत

महाभारत सर्वप्रमुख इतिहासग्रन्थ है ।[1] इसे धर्मदर्शन का अलौकिक ग्रन्थ माना जाता है जिसके पठन-पाठन, श्रवण-मनन आदि से सर्वतोभावेन हमारा कल्याण होता है । इसीलिए इसे पञ्चम वेद के नाम से भी जाना जाता है ।[2] महाभारतकार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का स्पष्ट कथन है कि जो महाभारत में नहीं है वह अन्यत्र नहीं है । भारतीय अध्यात्म तथा भक्ति का आकर-ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता इसी 'महाभारत' के भीष्मपर्व का अंग है । साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गायी जाने के कारण (श्रीमताभगवतागीता इति) ही इसे श्रीमद्भगवद्गीता कहा जाता है । श्रीमद्भगवद्गीता में विशिष्टाद्वैत दर्शन के तत्त्व भरे पड़े हैं जिन्हें हम प्रस्तुत अध्याय में उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे ।

श्रीमद्भगवत्गीता में चित् आत्मा, अचित् प्रकृति (जगत्) तथा ईश्वर इस तत्त्वत्रय की व्याख्या की गयी है, जिसे हम विशिष्टाद्वैत के 'तत्त्वत्रय' के साथ बैठा सकते हैं । गीता में जीवात्मा को स्वचैतन्य, नित्य अपरिणामी बताया गया है तथा शरीर (देह) को परिणामशील, अनित्य बताया गया है । चेतनतारहित देह परिणाम शील है अतः एक रूप नहीं रहता इसलिये उसकी सत्ता नहीं रहती । चैतन्यवस्तु आत्मा,

---

1. जयनामेतिहासोऽयम् - महाभारत

2. विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन् । महाभारत, आदिपर्व, 62/32

3. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् । महाभारत

चिरकाल तक मौजूद रहता है अत: उसकी असत्ता या अभाव नहीं होता । इसमें देह अनित्य और आत्मा नित्य वस्तु है ऐसा तत्त्वदर्शियों ने देखा है ।[1] यह जीवात्मा न कभी मरता है, न कभी कल्पान्त में भी उत्पन्न होकर पुन: कभी मरेगा, अत: यह आत्मा जन्मरहित नित्य, परिणामरहित एक रूप वस्तु है । इसलिए देह के नष्ट होने पर भी देही ॥आत्मा॥ नष्ट नहीं होता ।[2] जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़ों को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी पुराने शरीर को त्यागकर नवीन शरीर धारण करता है ।[3] इस प्रकार आत्मा की प्रतिशरीर विभिन्नता को भी कहा गया है । यह आत्मा अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अदाह्य अतएव नित्य है और यह आत्मा अव्यक्त ॥चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा अगोचर॥ अचिन्त्य मन से अगोचर, अविकारी, हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों का अविषय है अतएव इन सभी शुभ गुणों से विशिष्ट है अत: आत्मा के लिए शोक करना उचित नहीं है ।[4]

----

1. नासतो विद्यते भाव: नाभाव: विद्यते सत: ।
   उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि: ॥ श्रीमद्भगवद्गीता 2/16.

2. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय: ।
   अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ वही 2/20.

3. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
   तथाशरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ वही 2/22.

4. वही, 2/24-25.

गीता ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को मानती है तथा दोनों में समन्वय करती है । गीता में ब्रह्म ही तत् माना गया है और यह ब्रह्म स्वयं वासुदेव कृष्ण ही हैं क्योंकि वे ही इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं । ब्रह्म के सगुण रूप की गीता में वर्णन करते हुए कहा गया कि जब जब इस पृथ्वी पर धर्म की हानि तथा अधर्म का अभ्युदय होता है तब तब भगवान् श्रीकृष्ण अपने को इस पृथ्वी पर अवतरित करते हैं ।[1] इस अवतार का उद्देश्य बताते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रत्येक युग में साधु पुरुषों की रक्षा करने तथा दुष्टजनों का विनाश करने के लिए एवं धर्म की पुनः स्थापना करने के लिए मैं उत्पन्न होता रहता हूँ ।[2] इस प्रकार श्रीकृष्ण परम् सत्ताक परमेश्वर हैं । यहाँ पर गीता में अवतारवाद का निदर्शक हुआ है ।

यही परमेश्वर अन्तर्यामी रूप में समस्त प्रकृति और समस्त जीवों में समाहित है । श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि मैं जन्म-मृत्यु अव्यय स्वरूप एवं सर्वभूतों का नियन्ता ईश्वर हूँ फिर भी मैं अपना परमेश्वरत्व स्वभाव विना, अपने संकल्प के अनुसार अर्थात् स्वेच्छा से देव मनुष्य आदि रूपों में अवतीर्ण होता रहता हूँ और उस अवतरण का कारण मेरी इच्छा, मेरा संकल्प ही कहा जाता है ।[3] भगवान् कहते हैं मैं ही इस समस्त संसार का प्रभव उत्पत्तिस्थान और प्रलयस्थान हूँ ।[4] माला में

---

1. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम् ॥ - श्रीमद्भगवद्गीता 4-7
2. वही, 4/8.
3. वही, 4/6.
4. वही, 7/6.

जैसे सम्पूर्ण मनिये एक में ही गुथे रहते हैं ठीक उसी प्रकार समस्त जगत् मुझमें ही आश्रित रहता है ।[1] गीता में सगुण साकार रूप में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दर्शन दिया है। इसलिए सगुण ईश्वर की महत्ता और बढ़ जाती है । अर्जुन कहते हैं कि हे देव ! आपके शरीर में समस्त देवगणों को विशेष प्राणियों को एवं कमलासन पर बैठे ब्रह्माजी को, महादेवजी को दिव्य ऋषियों को एवं दिव्य सर्पगणों को देख रहा हूँ ।[2]

हे विश्वरूप ! अनेक बाहुओं, उदरों, मुखों और नेत्रों से विशिष्ट एवं अनन्त रूप विशिष्ट सर्वत्र देखता हूँ । आपका आदि, मध्य और अन्त कुछ भी नहीं देख पा रहा हूँ ।[3] हे कृष्ण ! मैं आपको किरीट, गदा, चक्र लिए हुए, तेजोराशिरूप, सर्वव्यापी प्रकाशमय, प्रदीप्त अग्नि और सूर्य के प्रकाशसदृश तेजपूर्ण, अतः सब प्रकार से देखने में अतिगहन अतुलनीय विग्रह वाले रूप में देख रहा हूँ ।[4] इस प्रकार यदि भगवान् का स्वरूप साकार, सगुण न होता तो उनका स्वरूप दर्शन कैसे हो पाता ?

श्रीमदभगवद्गीता में परमेश्वर की दो प्रकृतियों का वर्णन है अपरा तथा परा तथा । अपरा प्रकृति को क्षेत्र और क्षर पुरुष भी कहा जाता है । यह जड़प्रकृति है जिसके भीतर समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान है । पराप्रकृति में चेतन जीव आते हैं।

---

1. गीता, 7/7.
2. वही, 11/15.
3. वही, 7/16.
4. वही, 7/17.

इनकी अन्य संज्ञा क्षेत्रज्ञ या अक्षर पुरुष भी है ।[1]

सम्पूर्ण चराचर जगत् सत्त्वादि तीनों गुणों से मोहित रहता है । इसलिए यह जगत् इन गुणमय भावों से उत्कृष्ट और अव्यय मुझे नहीं जान पाता ।[2] श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरी माया अर्थात् विचित्र कार्यकारिणीशक्ति इस जगत् की सृष्टि आदि क्रीड़ा में प्रवृत्त मेरे द्वारा ही निर्मित है । यह माया अत्यन्त दुरतिक्रमणीय है किन्तु जो केवल मेरी ही शरण में आए हैं, वे इस माया से छुटकारा पाने में समर्थ हो पाते हैं ।[3]

चैतन्यरूप होने से जीव ईश्वर की उत्कृष्ट 'परा प्रकृति' या विभूति है । जीव कूटस्थ और अक्षर है । जीव ईश्वर का सनातन अंश है ।[4] ईश्वर अंशी है । विशिष्टाद्वैत दर्शन में भी जीव और ईश्वर में अंशांशिभाव सम्बन्ध है । क्षर पुरुष (बद्ध पुरुष) और अक्षर पुरुष (मुक्त जीव) इन दोनों के ऊपर उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम हैं । यह पुरुषोत्तम ही परम तत्त्व है ।[5] इस प्रकार गीता में विशिष्टाद्वैत की

---

1. गीता, 7/4-5.

2. वही, 7/13.

3. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
   मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। वही, 7/14.

4. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । वही, 15/7.

5. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । वही, 15/17.

तरह सगुण ईश्वर का व्याख्यान किया गया है, उसी से इस नानारूपात्मक जगत् का सृजन हुआ है । वह जगत् तथा जीव का अन्तर्यामी है । जगत् तथा जीव उससे अपृथक् सिद्ध हैं ।

'भक्ति' श्रीमद्भगवद्गीता का हृदय है । महाभारत की अंगभूता गीता तो भक्ति-साहित्य में भक्तिशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित है । गीता के उपदेश का प्रारम्भ ही प्रपत्ति या शरणागति से होता है जब अर्जुन धर्म के विषय में मोहग्रस्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं - 'मैं आपका शिष्य हूँ, आपका प्रपन्न हूँ अर्थात् आपकी शरण में आया हूँ । कृपया अपने सदुपदेश से मेरा मोह दूर कीजिए ।[1] यह भावना विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुरूप है । वहाँ भी प्रपत्ति को ही मुक्ति का आधार स्वीकार किया गया है और स्वयं को पापात्मा, निरीह प्राणी बताकर भक्त श्रीमन् नारायण को आत्मार्पण कर देता है । गीता में भी 'भक्ति' को एकमात्र ईश्वरप्राप्ति का साधन कहा गया है ।[2] गीता में भक्ति का जो स्वरूप बताया गया है वही विशिष्टाद्वैत दर्शन-सम्मतस्वरूप है । गीता में कहा गया है :-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायण: ॥[3]

----

1. कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव: पृच्छामि ते धर्मसम्मूढचेता: ।
   यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
   - श्रीमद्भगवद्गीता 2/7.

2. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
   ज्ञातं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परं तप ॥ गीता 11/54.

3. श्रीमद्भगवद्गीता, 9/34.

अर्थात् तुम मुझमें अत्यन्त प्रीतियुक्त होकर निरन्तर व्यवधानरहित होकर मुझमें ही मन लगाओ, मेरे भजनशील बनो एवं अत्यन्त प्रेमयुक्त होकर मुझे नमस्कार करो । इस प्रकार अत्यन्त प्रीतियुक्त एवं सर्वतोभावेन मुझमें चित्त लगाकर, मेरे परायण होने से तुम मुझको ही प्राप्त करोगे ।

गीता में कहा गया है कि भक्ति से यदि भक्त ईश्वर को पत्र, पुष्प, फल या जल जो कुछ भी अर्पित करता है, भगवान् उस उपहार को सहर्ष स्वीकार करते हैं ।[2] भक्त जो भी करे वह सब ईश्वर को समर्पित कर दे ।[3] इसी पूर्ण समर्पण भाव को भक्ति कहते हैं । इस प्रकार की भक्ति को भगवान् राज-विद्या तथा राजगुह्य योग कहते हैं ।[4] अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं :-

सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।[4]

अर्थात् हे अर्जुन ! तुम कर्मयोग, भक्तियोग औरयोग रूप समस्त धर्मों के अनुष्ठान में उपायबुद्धि का त्याग करके ॥न कि स्वरूप त्याग करके॥ एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण करो अर्थात् एकमात्र मुझे ही कर्त्ता, आराध्य, प्राप्य एवं उपाय रूप से अनुसन्धान करो प्रेमपूर्वक उक्त प्रकार से आराधित होकर मैं स्वयं मेरी प्राप्ति के विरोधीरूप समस्त

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता 9/34.
2. वही, 9/26.
3. वही, 9/27.
4. वही, 9/2.

पापों से तुम्हें मुक्त कर दूँगा । तुम निश्चिन्त रहो, शोक मत करो ।[1]

गीता के अतिरिक्त भी महाभारत में अनेक स्थलों पर भक्ति पर चर्चा की गयी है । महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में भीष्म युधिष्ठिर से भक्ति के विषय में विशद विवेचन प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार भक्ति निवृत्तिपरक नहीं प्रत्युत प्रवृत्तिपरक है जो युगों के धर्म और निष्काम कर्म का विधान करती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरणागति या प्रपत्ति तथा भक्ति का जो विशद रूप हमें रामायण तथा महाभारत, उसमें भी 'गीता' में मिलता है वही आगे चलकर विशिष्टाद्वैत दर्शन में परिस्फुटित होता है । विशिष्टाद्वैत के बीज उक्त इतिहासग्रन्थों में अनुस्यूत हैं ।

---------::0::---------

----

1. श्रीवरमुनि द्वारा गीतार्थसंग्रहदीपिका में उक्त श्लोक का विशिष्टाद्वैत सम्मत अनुवाद ।

पञ्चम अध्याय

आगमसाहित्य में विशिष्टाद्वैत

1. पाञ्चरात्र आगम

   (क) प्राचीनता एवं प्रामाणिकता

   (ख) साहित्य

   (ग) दर्शन

2. वैखानस आगम

पांचरात्र आगम

प्राचीनता एवं प्रामाणिकता

आचार्य रामानुज के पूर्व के विशिष्टाद्वैत वेदान्त के समर्थक सम्प्रदायों में आगम साहित्य का प्रमुख स्थान है और इन आगम सम्प्रदायों में 'पाञ्चरात्र आगम' एक प्राचीन सम्प्रदाय है । ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से पांचरात्र आगम का सम्बन्ध होने से उसकी प्राचीनता स्वतः सिद्ध है । यह आगम समस्त भावी श्रीवैष्णव सम्प्रदायों का आधार-स्तम्भ है । शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि परम पुरुष नारायण ने एक बार सभी नरों से पूरे होने की आकांक्षा प्रकट की तब वे पांचरात्र यज्ञ का दर्शन करके अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके ।[1] हो सकता है कि 'पुरुषो ह नारायणः' के ये विशेष नाम आगे जाकर नर और नारायण नामक दो ऋषियों में बदल गये हों । इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि नारायण नामक एक पुरुष ही पांचरात्र यज्ञ करके एक महान् देवता बन गया हो । महाभारत के अनुसार नर, नारायण स्वयं अपरिणामी ब्रह्म की उपासना करते हैं, अतएव महान् देवता कहे गये ।[2] सात्वत संहिता, जो एक प्राचीन पांचरात्र संहिता है, के अनुसार एक राजा नारायण का अनन्य भक्त था तथा सात्वत विधि से उसकी उपासना किया करता था । वह उसका इतना भक्त था कि उसने अपना सब कुछ राजपाट, धन-सम्पदादि नारायण का ही दिया हुआ मान लिया था । अपने घर में वह पांचरात्र

---

1. शतपथ ब्राह्मण, 13/6/1.
2. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 334.

मतावलम्बियों को प्रश्रय देता था । इन साधुओं ने राजा के आश्रय में ही रहकर यज्ञ किया परन्तु वे नारायण का दर्शन न कर सके, अत: बृहस्पति क्रुद्ध हो गये । कहीं-कहीं यह वृत्तान्त इस प्रकार मिलता है कि यज्ञ करने के बाद भी जब ऋषियों को नारायण का दर्शन प्राप्त नहीं हुआ तब स्वर्ग से एक सन्देश आया कि महा-नारायण श्वेत द्वीपवासियों को ही साक्षात्कार देते हैं जो इन्द्रियहीन हैं, जिन्हें भोजन की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती और जो एकेश्वरवादी भक्त हैं । श्वेत-द्वीप के निवासियों से वे सन्त बहुत प्रभावित हुए और उनके सौन्दर्य से चकाचौंध होने के कारण उन्हें देख न सके तब तपस्या करने लगे । तत्पश्चात् ही वे उन्हें दिखायी दिये । ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार देवर्षि नारद ने भी श्वेतद्वीप के विचित्र वासियों को दूर से ही देखा था फिर वे श्वेतद्वीप गये और वहाँ अपने आराध्यदेव नारायण के दर्शन किये । नारद से नारायण ने कहा कि वासुदेव परमेश्वर हैं, उनसे संकर्षण की उत्पत्ति हुई जो समस्त जीवों के अधिपति हैं, संकर्षण से प्रद्युम्न की उत्पत्ति हुई जो मनस् हैं प्रद्युम्न से अनिरुद्धसंज्ञक अहंकार की उत्पत्ति हुई और अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई जो समस्त विश्व के स्रष्टा हैं ।

यामुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'आगमप्रामाण्य' में पांचरात्र मत की विशिष्टताओं का उल्लेख किया है । उनका कथन है कि भाषा द्वारा दिया हुआ उपदेश या तो स्वत: सिद्ध होता है या फिर अन्य प्रमाणों की वैधता द्वारा सिद्ध होता है । सामान्य व्यक्ति का उपदेश स्वत: सिद्ध नहीं होता । प्रत्यक्ष या अनुमान से पांचरात्र सम्बन्धी विशिष्ट आनुष्ठानिक क्रियाएँ सिद्ध नहीं होती हैं । केवल ईश्वर ही पांचरात्र का उपदेश दे सकते हैं । पांचरात्र मत के विरोधियों का कहना

है कि पांचरात्र मनुस्मृति इत्यादि ग्रन्थों के समान वेदों पर आधारित होने के कारण भी प्रमाण रूप किन्तु यह कहना मिथ्या है क्योंकि स्मृतियों में भी इस मत का विरोध किया गया है । यदि यह कहा जाय कि पांचरात्र कर्मकाण्ड के अनुयायी अन्य वैदिक ब्राह्मणों जैसे ही ब्राह्मण हैं तो इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि उन्हें समाज मान्यता ही नहीं देता । पांचरात्र मतावलम्बी सात्वत भी कहे जाते हैं ।[1] सात्वत शब्द ही निम्न जाति का सूचक है और सात्वत तथा भागवत पर्यायवाची शब्द हैं । सात्वत राजाज्ञा से आजीविका हेतु मन्दिर में पूजा करते हैं और मूर्ति पर चढ़ायी गयी वस्तुओं से अपना उदर-भरण करते हैं, ब्राह्मणों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसा भी कहा जाता है कि जो व्यक्ति आजीविकामात्र के लिए पूजा करता है उसके दर्शनमात्र से ही लोग अपवित्र हो जाते हैं जिनकी शुद्धि प्रायश्चित्त कर्म से ही संभव है । पांचरात्र ग्रन्थ निम्नकोटि के सात्वत और भागवत अपनाते हैं अत: ये ग्रन्थ अप्रमाण और अवैदिक माने जाने चाहिए । पुन: उनका कहना है कि उसकी अप्रामाणिकता और अवैदिकता के कारण ही वादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में इस मत का खण्डन किया है ।[2] आचार्य शंकर ने भी ब्रह्मसूत्रभाष्य में इस मत का खण्डन इसके अवैदिक किंवा वेदनिन्दक होने के कारण किया है ।

लेकिन यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो न तो वादरायण और न ही शंकर

---

1. वैश्यात् तु जायते ब्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च ।
   भारुषश्च निजंदश्च मैत्र सात्वत एव च ॥ - आगमप्रामाण्य, पृष्ठ 8.

2. ब्रह्मसूत्र 2/2/8/42-45.

इस मत के विरोधी में यदि बादरायण 'ब्रह्मसूत्र' में इस मत का खण्डन करते हैं तो महाभारत में [illegible] समर्थन क्यों करते हैं ? और शंकर जो यह कहते हैं कि शाण्डिल्य ऋषि ने जब वेदों में अपने इष्ट की सिद्धि के लिए कोई साधन नहीं पाया तो वे पांचरात्र मत का आश्रय लिये । इसका अर्थ वेद की निन्दा नहीं है । बल्कि इसका अर्थ यही होता है कि पांचरात्र में अभीष्ट सिद्धि का साधन वेद से भिन्न है । पांचरात्र वेद में अभिहित कर्मकाण्ड से भिन्न अपने विशेष कर्मकाण्ड की विधि बताते हैं, इससे वे अवैदिक सिद्ध नहीं होते । क्योंकि जहाँ तक हम यह प्रमाणित नहीं कर पाते कि पांचरात्र अवैदिक है वहाँ तक पांचरात्रोक्त विधि भी अवैदिक है, ऐसा हम नहीं कह सकते अन्यथा चक्रक दोष हो जायेगा । पांचरात्र में भगवान् वासुदेव के चार व्यूह माने गये हैं, इससे यह अर्थ लगाना कि यह मत अनेकेश्वरवादी हैं, ठीक नहीं है, क्योंकि ये चारों व्यूह भगवान् वासुदेव की ही अभिव्यक्ति हैं ।

अपि च, विरोधियों का यह कहना कि भागवत किंवा सात्वत अब्राह्मण है, वह दोषयुक्त है, क्योंकि भागवत वहीं चिह्न धारण करते हैं जो अन्य ब्राह्मण धारण करते हैं । समाज के सम्मानित लोग मूर्ति-पूजा में उन्हीं क्रियाओं का पालन करते हैं जिन्हें पांचरात्र आगम में बताया गया है । मनु ने पंचम जाति को 'सात्वत' कहा है, इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि सभी सात्वत पंचम जाति के हैं । सात्वत पंचम जाति के हैं यह अनेक शास्त्रों के विरुद्ध भी है । कुछ सात्वत मूर्ति या मन्दिर बनाकर पूजा द्वारा आजीविका चलाते हैं, इसका परिणाम यह नहीं कि सभी भागवत यही कर्म करते हैं । इसी प्रकार यामुनाचार्य ने भी अनेक विध यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि पांचरात्र भी वेद की तरह ही प्रमाण है क्योंकि उसका उद्गम-स्थान एक ही दैवी पुरुष नारायण है ।

साहित्य

नैकविध विरोधों के बावजूद, पांचरात्र मत' के समर्थन में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ जिनमें वेंकट सुधीकृत 'सिद्धान्त रत्नावली' का एवम्प्रमुख स्थान है। वेंकटसुधी वेंकटनाथ के शिष्य थे और श्रीशैल ताताचार्य के पुत्र थे। 'सिद्धान्तरत्नावली' चतुरःसाहस्री ग्रन्थ है जिसमें पांचरात्र मत का बड़ा विशद विवेचन किया गया है। वेंकट सुधी ने 'रहस्यत्रयसार और सिद्धान्तवैजयन्ती' नामक दो ग्रन्थ और लिखे। इसके अतिरिक्त 'पांचरात्र' का संक्षिप्त वर्णन करने वाले और भी ग्रन्थ लिखे गये हैं, इनमें गोपालसूरि का पांचरात्र रक्षासंग्रह, प्रमुख रूप से उल्लेख्य है। गोपालसूरि कृष्ण देशिक के पुत्र थे और वेदान्त रामानुज के शिष्य थे जो स्वयं कृष्णदेशिक के शिष्य थे।

श्रीवैष्णव पांचरात्र को वेद जितना ही प्रामाणिक मानते हैं, यद्यपि कुछ लेखक है जो पांचरात्र को वेद पर आधृत नहीं मानते। पराशरपुराण में पांचरात्र के अनुयायियों को शापभ्रष्ट[1] कहा गया तथा वशिष्ठसंहिता, साम्बपुराण आदि ग्रन्थों में पांचरात्र की घोर अवैदिक कहकर निन्दा की गयी। इतना सब कुछ होने पर भी पांचरात्र मतानुयायी वेदानुयायियों से पूर्ण मैत्री भाव रखते हैं। ऐसा लगता है कि वे अल्पसंख्यक थे अतः वेदानुयायियों की निन्दा नहीं करते थे और फिर विष्णुपुराण, भागवत और महाभारत जैसे विशाल एवम् महनीय ग्रन्थ उनका पक्ष भी लेते थे। अतः उसके पांचरात्रमत के प्रचार-प्रसार में कोई परेशानी नहीं हुई। महाभारत में सात्वत क्रियाकलापों एवम् पांचरात्र के व्यूहसिद्धान्त का भी उल्लेख है।

---

1. द्वितीये पांचरात्रे च तंत्रे भागवते तथा।
दीक्षिताश्च द्विजा नित्यं भवेयुः गर्हिताः हरेः॥ - वशिष्ठसंहिता

इतना सब कुछ होते हुए भी, जैसा कि उपर्युक्त है, पांचरात्र का एक समृद्ध साहित्य है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त का पूर्वरूप कहा जाने वाला पांचरात्र आगम अपने मूल में विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों को छिपाये हुए हैं । सात्वत् संहिता, पांचरात्र मत की महत्त्वपूर्ण संहिता है । महाभारत, अहिर्बुधन्य और अन्यान्य संहिताओं में सात्वत का उल्लेख है । इसमें 24 अध्याय हैं । सात्वत संहिता के अनुसार श्रीभगवान् में ऋषियों के मार्गदर्शन हेतु, संकर्षण द्वारा प्रार्थित होने पर, पांचरात्र मत का प्रवर्तन किया ।

'ईश्वर संहिता' भी 24 अध्यायों में विभक्त है । इसमें पूजाविधान के अतिरिक्त दार्शनिक समस्याओं का भी प्रतिपादन है जो श्रीवैष्णव धर्म-दर्शन का आधार है । इसी तरह 'हयशीर्षसंहिता' भी चार विभागों में बँटी है जिनमें कुल मिलाकर 144 अध्याय हैं । सभी में मूर्ति निर्माणविधि और कर्मकाण्ड का वर्णन है ।

'विष्णुतत्त्वसंहिता, जो 139 अध्यायों में विभक्त है, में मूर्तिपूजा विधि और वैष्णवचिह्न तथा शुद्धि के विषय में विस्तार के साथ लिखा गया है । इसी प्रकार परमसंहिता, पद्मसंहिता, परमेश्वरसंहिता, पौष्करसंहिता, प्रकाशसंहिता, महासनत्-कुमारसंहिता, पाराशर संहिता, अनिरुद्धसंहिता, काश्यपसंहिता, विहगेन्द्रसंहिता, सुदर्शनसंहिता, अगस्त्यसंहिता, विष्णुसंहिता, मार्कण्डेयसंहिता आदि अनेक ग्रन्थों में पांचरात्रसम्मत विधियों का वर्णन है ।

उपर्युक्त ग्रन्थों में कर्मकाण्ड पक्ष का जोरदार वर्णन है । दार्शनिक पक्ष बहुत कम वर्णित है । प्राप्त संहिताओं में कुछ ही ऐसी हैं, जिनमें दार्शनिकता का कुछ

अंश मिलता जैसे - जयाख्यसंहिता, अहिर्बुधन्यसंहिता, विष्णुसंहिता, विहगेन्द्र संहिता, विष्णु संहिता, परमसंहिता और पौष्करसंहिता । इनमें भी जयाख्य और अहिर्बुधन्य संहिताएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं ।

दर्शन

जयाख्य संहिता के अनुसार केवल यज्ञ, तप, दान और शुद्धि से कोई स्वर्ग, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता । मोक्ष प्राप्ति हेतु तत्त्व को पहचानना परमावश्यक है, जो सर्वव्यापक, नित्य, स्वयं, संवेद्य, शुद्ध और चैतन्य है । इस परमतत्त्व को प्राप्त करने में गुरु ही प्रथम साधन है ।

जयाख्यसंहिता में तीन प्रकार की सृष्टि का वर्णन है । पहला ब्रह्मसर्ग है। इसके अनुसार सर्वप्रथम विष्णु ने ब्रह्मा की सृष्टि की और अहंकारवश ब्रह्मा ने स्व-रचित सृष्टि को अपवित्र कर दिया । इसके बाद स्वेद के दो बूँदों से उत्पन्न मधु और कैटभ नामक दैत्यों ने वेदों को चुराकर बड़ा हंगामा खड़ा कर दिया । भगवान् विष्णु जब शारीरिक शक्ति से लड़कर असफल हो गये तब उन्होंने मंत्रशक्ति का प्रयोग किया और सफलता प्राप्त की ।

दूसरे सर्ग में सांख्यदर्शन के तत्त्वों का विकाश वर्णित है । जयाख्यसंहिता के अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण परस्पर एकता से परे रहते हैं । ये तीनों भिन्न होते हुए भी प्रधानतः एकात्मभाव लिये रहते हैं - भिन्नम् एकात्म लक्षणम् । गुणों के इस त्रिगुट से बुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति होती है । बुद्धि से तीन प्रकार के अहंकार क्रमशः प्रकाशित विकृतात्मा और भूतात्मा उत्पन्न होते हैं ।

उत्समें भी प्रकाशात्मा से पंचज्ञानेन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति होती है । विकृता-त्मारूप अहंकार से पंच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और तीसरे अहंकार - भूतात्मा से पंचतन्मात्राएँ पैदा होती हैं और इन तन्मात्राओं से पंचभूतों की सृष्टि होती है। प्रकृति निसर्गतः जड़ स्वम् भौतिक है अतः उसका विकास भी भौतिक होता है । यहाँ एक प्रश्न उठता है कि एक भूत से दूसरा भूत कैसे उत्पन्न होता है ? इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि जिस प्रकार धान का बीज, व चावल निसर्गतः भौतिक पदार्थ है तो भी बीज में जननशक्ति है, चावल में नहीं उसी प्रकार यद्यपि प्रकृति और उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ दोनों भौतिक हैं फिर भी एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं । जड़ प्रकृति से उत्पन्न तत्त्व ब्रह्म से अभिन्न चैतन्य रूप आत्मा के प्रकाश द्वारा व्याप्त होने के कारण चैतन्ययुक्त प्रतीत होते हैं ।

तृतीय सर्ग शुद्ध, सर्ग के नाम से ख्यात है । इस सर्ग में वासुदेव समस्त देवों के अन्तर्यामी बनकर उन्हें कर्मशील होने की प्रेरणा देते हैं और स्वयं से अच्युत, सत्य और पुरुष नामक तीन उपदेवों को प्रकट करते हैं जो उनसे अभिन्न सत्ता वाले हैं ।

ईश्वर अनादि है, अनन्त है, वह चित् और अनान्दमय है । वह न सत् है न असत्[2] वह निर्गुण है किन्तु गुणों से उत्पन्न सभी विषयों का भोग करता है। वह सर्वज्ञ है, सर्वाधिपति है । वह स्वसंवेद्य है, उसी प्रकार जैसे पुष्पगन्ध स्वतः

---

1. चिद् रूपम् आत्मतत्त्वं यद् अभिन्नं ब्रह्मणि स्थितम् ।
   तेनैतच्छुरितं भाति अचिद् चिन्मयवद् द्विजः ॥ जयाख्यसंहिता 3/14.

2. न सद् तन्नासदुच्यते । वही ।

उपलब्ध होता है ।[1] ईश्वर जड़ और चेतन दोनों में औषधियों में रस की तरह व्याप्त है ।[2]

वासुदेव ने अच्युत्, सत्य और पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जयाख्य संहिता में कहा गया है कि यह सृष्टि अहेतुक और सहज होती है तथा ये तीनों अभिव्यक्तियाँ परस्पर प्रतिबिम्बित होते हुए एक जैसी ही हैं । जयाख्यसंहिता में दो प्रकार के ज्ञान का उल्लेख प्राप्त होता है । प्रथम, सत्ताख्य ‍(स्थिति) ज्ञान और द्वितीय, क्रियाख्य (क्रियाशील) ज्ञान । क्रियाख्य ज्ञान यम-नियम आदि नैतिक अनुशासन को कहते हैं । क्रियाख्य ज्ञान के अनवरत अभ्यास से ही सत्ताख्य ज्ञान परिपक्व एवम् पूर्ण होता है ।

जयाख्यसंहिता की एक विशेषता यह है कि इसमें भक्त को योगी माना गया है । अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये दो मार्गों को स्वीकार किया गया है । प्रथम, ध्यानसमाधि द्वारा और दूसरा मन्त्रजप की साधना के द्वारा । इसमें योग की विभिन्न क्रियाओं का स्वाभाविक वर्णन किया गया है । इसमें कहा गया है कि अन्ततः योगाभ्यास द्वारा योगी ब्रह्मरन्ध्र के द्वार से निकल जाता है और अपना शरीर छोड़ देता है तथा सद्रूप वासुदेव से एकरसता स्थापित कर लेता है ।[3]

---

1. स्वसंवेद्यं तु तद्विद्धि गन्धः पुष्पादिको यथा । जयाख्यसंहिता 4/76
2. चेतनाचेतनाः सर्वे भूता स्थावर जंगमाः ।
   पूरिता परमेशेनं रसेनौषध्यो यथा ॥ - वही 4/93.
3. वही, अध्याय 33.

इस प्रकार जयाख्यसंहिता के साथ सांख्य और योग के भी बहुत करीब है। इसमें त्रिगुणों की साम्यावस्था 'प्रकृति' को सांख्य के अनुसार ही स्वीकार किया गया है किन्तु पुरुष के स्वभाव के बारे में मतभेद है। इसमें पुरुष और प्रकृति के बीच अनुभवातीत भ्रम को स्वीकार नहीं किया गया है जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने माना है।

विष्णुसंहिता में 30 अध्याय हैं। यह सांख्य सिद्धान्त से अधिक प्रभावित है। यह पुरुष को सर्वव्यापक मानती है। इसमें पुरुष की गत्यात्मकता सक्रियता प्रतिष्ठित हुई है जिससे प्रकृति का विकास हुआ है। पंचेन्द्रियों की पाँचों शक्तियों विष्णु की शक्ति मानी गयी है। विष्णु की शक्ति के स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूप होते हैं। अपने पर-रूप में वह चित् शक्ति रूप है। वह विश्व की शक्ति है, कारण शक्ति जिसके द्वारा चैतन्य विषय को ग्रहण करता है तथा वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी है।

सूक्ष्म रूप से ये पाँचों शक्तियों ईश्वर की सूक्ष्म शरीर हैं। विष्णुसंहिता के 13वें अध्यायों में योग और उसके सहायक षड्योगों का वर्णन है। इसमें यह कहा गया है कि किस प्रकार योग मार्ग द्वारक भक्ति प्राप्त हो सकती है। इसे ही 'भागवत् योग' की संज्ञा दी गयी है। यहाँ पर यह ध्यान रहना चाहिए कि इस मत में जीव को सर्वव्यापक माना गया है जो श्रीवैष्णवसम्प्रदाय के विरुद्ध है। लेकिन योग के जिस अष्टांग मार्ग की अनुशंसा की गयी है, उसे श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के आरम्भिक अनुयायी जब तब उपयोग में लाते रहे हैं।

अहिर्बुधन्य द्वारा विरचित अहिर्बुधन्यसंहिता में पांचरात्र मत का चरमोत्कर्ष देखा जा सकता है। अहिर्बुधन्य ने संकर्षण से सच्चा ज्ञान प्राप्त किया और यह सद् ज्ञान का नाम सुदर्शन है जो विश्व की समस्त वस्तुओं का आधार है।[1] इस संहिता में कहा गया है कि अन्तिम सत्ता अनादि, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, अपरिणामी, नित्य एवम् नि:सीम है।

वह आनन्द और शुभ है तथा सर्वथा पापरहित है। 'ब्रह्म' के अनेक नाम हैं जैसे परमात्मन्, भगवान्, वासुदेव, अव्यक्त, प्रभूत आदि। जब शुद्ध ज्ञान से जन्म जन्मान्तर से संचित पाप एवम् पुण्य तथा तज्जन्य संस्कार दग्ध बीज हो जाते हैं तथा मनुष्य त्रिगुणों के द्वारा बन्धन में नहीं फँसता, तब वह सद्य: ब्रह्म स्वरूपत्व को प्राप्त कर लेता है, जो अंतिम सत्ता है तथा जिसे इदम् तथा इत्थम् शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। वह गौण तथा प्रधानगुणों से परे है, तो भी वह षाड्गुण्य है। सभी गुणों में ज्ञान सर्वप्रथम और मुख्य है। ब्रह्म शुद्ध एवम् चैतन्य है तो भी उसमें ज्ञानगुणरूप में अवस्थित रहता है।[2] वीर्य, ऐश्वर्य आदि पाँचों गुण ज्ञान के अन्तर्गत है और ज्ञान ही ब्रह्म का स्वरूप है। यही ब्रह्म जब अपने को नाना रूपों में प्रकट करने का संकल्प करता है तब वह सुदर्शन संज्ञाभाक् होता है।

---

1. सुदर्शनस्वरूपं तद् प्रोच्यमानं मया श्रृणु।
   श्रुते यत्राखिलाधारे संशयास्ते न सन्ति वै॥ - अहिर्बुधन्यसंहिता 3/25.

2. ज्ञानं नाम गुणं प्राहु: प्रथमं गुणचिंतका:।
   स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणाश्च परिगीयते॥ - वही, 3/2/53.

प्रत्येक वस्तु की अन्तर्हित शक्तियाँ होती हैं जो द्रव्य से अभिन्न होती हैं। इसी प्रकार ईश्वर में भी वह गूढ शक्ति अन्तर्हित है जिससे वह इस अचिन्त्य जगत् की सर्जना करने में समर्थ होता है । यह जगत् उसकी सहज अभिव्यक्ति है । यही शक्ति ही जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है अत: लक्ष्मी कही जाती है । वह जगत् रूप से अभिव्यक्त होती है अत: कुण्डलिनी कही जाती है और ईश्वर की महान् शक्ति होने के कारण विष्णुशक्ति भी कही जाती है । शक्ति वास्तव में ब्रह्म से भिन्न है तब भी उससे अपृथक लक्षित होती है । इसी शक्ति से ईश्वर सतत, अकेले इस दृश्यमान् जगत् की रचना करता है ।

इस शक्ति की दो भिन्न युगल क्रियाओं द्वारा अनेक प्रकार की विशुद्ध रचनाएँ होती हैं । संकर्षण का आध्यात्मिक रूप ज्ञान और बल से उत्पन्न होता है। प्रद्युम्न का आध्यात्मिक रूप ऐश्वर्य और वीर्य से उत्पन्न होता है । शक्ति और तेज द्वारा अनिरुद्ध उत्पन्न होते हैं । यद्यपि प्रत्येक व्यूह दो गुणों की प्रधानता से बनते हैं फिर भी ये ईश्वर के षड्गुणों से युक्त हैं क्योंकि ये सब विष्णु के ही रूप हैं ।

विष्णु के दो और भी रूप हैं । प्रथम, आवेशावतार और द्वितीय साक्षात अवतार । आवेशावतार भी दो प्रकार का है :- 1. स्वरूपावशेष जैसे परशुराम और राम-कृष्णादि । 2. शक्ति आवेश जैसे ईश्वर की शक्ति विशेष का आविर्भूत होना, यथा ब्रह्मा और शिव आदि । ये आवेशावतार ईश्वर के संकल्प से मनुष्य योनि में पैदा होते हैं जैसे राम कृष्णादि और पशुयोनि में जैसे कि वराह मत्स्य एवं नृसिंहादि के अवतार और वक्र आम्रवृक्ष आदि वृक्ष के रूप में भी अवतार धारण करते

हैं । मनुष्य को इन्हीं अवतारों की आराधना करनी चाहिए, अन्य की नहीं ।

पुनः प्रत्येक व्यूह से तीन उपव्यूह प्रकट होते हैं । वासुदेव से केशव, माधव और नारायण, संकर्षण से विष्णु, गोविन्द और मधुसूदन, प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन व श्रीधर तथा अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ व दामोदर आविर्भूत होते हैं । इनके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्य संहिता में 39 विभव अवतारों का भी उल्लेख है ।

ईश्वर तथा जीव के बीच सम्बन्ध के बारे में पाञ्चरात्र तथा अहिर्बुध्न्य संहिता का कहना है कि प्रलय में जीव विष्णु में अव्यक्त रूप में रहते हैं तथा नवीन सृष्टि के समय उससे पृथक् हो जाते हैं । मुक्त होने के बाद वे विष्णु से अभिन्न हो जाते हैं और पुनः आवागमन नहीं होता । मुक्त होने पर वे ईश्वर में प्रवेश तो करते हैं किन्तु एक नहीं होते, वे विष्णु से अपना अलग अस्तित्व रखते हैं ये विष्णु के निवासस्थान बैकुण्ठ में वास करते हैं । वैकुण्ठवास को प्रायः विष्णु से एकात्म होना भी माना गया है । यह संभवतः सालोक्य मुक्ति है ।

अहिर्बुध्न्यसंहिता के 26वें प्रकरण में ईश्वर-प्राप्ति के साधनरूप प्रपत्ति-सिद्धान्त का वर्णन किया गया है । इसके अनुसार 'हम पाप और दोष मुक्त हैं, विष्णु की कृपा के विना हम भटके हुए हैं, हम सर्वथा निराधार हैं' - इस विश्वास से ईश्वर की कृपा-याचना करना ही प्रपत्ति या शरणागति है ।[1] यह शरणागति

----

1. अहमस्मि अपराधानाम् आलयोऽकिंचनोऽगतिः ।

त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना मतिः ।

शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ।। अहिर्बुध्न्यसंहिता 37/27-28.

षड्विध वर्णित है ।[1]

अहिर्बुध्न्यसंहिता में 'प्रमा' को 'यथार्थावधारणम्' के रूप में व्याख्यायित किया गया है जो विशिष्टाद्वैत का ही सिद्धान्त लगता है ।

वैखानस आगम

आगमसाहित्य में पाञ्चरात्र आगम से भिन्न वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । वैखानस आगम मरीचि ऋषि द्वारा कहा गया था । पांचरात्र आगम की अपेक्षा वैखानस आगम प्राचीन भारत में अधिक प्रतिष्ठित था । आचार्य रामानुज द्वारा दक्षिण भारत के मन्दिरों में पांचरात्र पद्धति का प्रचलन किये जाने के बावजूद आज भी तिरुपतिस्थित भगवान् वेंकटेश के मन्दिर तथा अन्य कई प्रमुख मन्दिरों में आराधनाविधि के रूप में इसी का प्रचलन है । तैत्तिरीय आरण्यक (1:23) में वैखानस शब्द ऋषिपरक है । महाभारत शान्तिपर्व (अध्याय 250, श्लोक 17), रामायण (किष्किन्धाकाण्ड 40:57 तथा 43:33,35) में वैखानस शब्द का प्रयोग हुआ है । अभिज्ञानशाकुन्तलम् में महाकवि कालिदास ने भी वैखानस व्रत का उल्लेख किया है ।[2]

---

1. षोढा हि वेदविदुषो वदन्त्येनं महामुने ।
   आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।।
   रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
   आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।। -अहिर्बुध्न्यसंहिता 37/30-37.
2. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात्
   व्यापाररोधिमदनस्य निषेवितव्यम् (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/29.

वैखानस आगम के अन्तर्गत जिन देव-प्रतिमाओं के निर्माण का उल्लेख हुआ है, उनमें ब्रह्मा तथा स्कन्द की पूजा ईशा के परवर्ती शताब्दियों में ही अप्रचलित हो चुकी थी । अतः इनकी भी पूजा का विधान के कारण इस आगम की प्राचीनता निर्विवाद है ।

वैखानस साहित्य में भी विशिष्टाद्वैत के दर्शन होते हैं । इसमें सर्वाधिक प्रसिद्ध 'भक्ति तत्त्व' का वर्णन मिलता है । भक्ति की सुमधुर रसधारा से सर्वथा आप्लावित है यह आगम । वैदिक कर्मकाण्ड को वैखानस आगम में पूर्ववत् मान्यता प्राप्त होने के पश्चात् भी भक्ति के अवयवभूत-जप, अर्चना और ध्यान का विधान किया गया है ।[1] भगवान् नारायण की उपासना से ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, यही वैखानस आगम का मूल स्वर है ।

इस प्रकार आगमग्रन्थों में बहुशः विशिष्टाद्वैत के तत्त्व देखे जा सकते हैं । इन्हीं सब तत्त्वों को उपबृंहित करके विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय आज अपने विशिष्ट रूप में प्रस्तुत है ।

---------::0::---------

---

1. वैखानस आगम, द्वितीय पटल ।

षष्ठ अध्याय

आलवार साहित्य में विशिष्टाद्वैत

(क) आलवार का अर्थ

(ख) कालानुक्रम

(ग) उत्पत्ति-स्थान

(घ) संख्या

(ङ) दार्शनिकता

आलवार का अर्थ

भारत की भक्तिधारा दक्षिण से उत्तर की प्रवाहित हुई है । तमिल प्रदेश के कतिपय वैष्णव सन्तों ने अपने सुमधुर भक्ति रसपूर्ण तमिल गीतिकाव्यों की पवित्र भक्ति गंगा प्रवाहित करके जनमानस को भगवद् भक्ति रसामृत से तृप्त किया है । इन भक्तकवि सन्तों को आलवार नाम से अभिहित किया गया है ।

आलवार का अर्थ है-'आध्यात्मिक ज्ञान सागर में निमग्न रहने वाला या भगवच्चिन्तन में निरन्तर लीन रहने वाला ज्ञानी भक्त ।' आलवार सन्त भगवान् लक्ष्मी नारायण के विभिन्न अवतारों (राम और कृष्ण आदि) के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव से तन्मय होकर हृदगत उत्कट भावों को अभिव्यक्त किया करते थे ।

कालानुक्रम

'विशिष्टाद्वैतवेदान्त' के तत्त्व आलवार साहित्य में बहुशः उपलब्ध होते हैं क्योंकि आलवार भी एक प्रसिद्ध वैष्णव-सम्प्रदाय है । आलवार दक्षिण के बहुत ही पुराने वैष्णव सन्त थे जिनमें से सरोयोगिन या पोयगै आलवार और पुतयोगिन या भूतत्तालवार से महदयोगिन अथवा पेयआलवार, भक्तिसार और तिरुमरिसैपिरान बहुत पुराने थे । नाम्मालवार या शठकोप, मधुरकवियल्विल्लार, कुलशेखरपेरुमल, विष्णुचिन्तन और गोदा (आण्डाल) उनके बाद हुए और भक्तांघ्रिरेणु(तोण्डरादि: पोडियालवार) योगीवाह तिरुपालवार और परकाल (तिरुमंगै यालवार) सबसे बाद में हुए । परम्परया इनमें से पहले के आलवारों का काल ई0पू0 4203 और बाद के आलवारों का कालक्रम ई0पू0 2706 माना गया है । किन्तु वर्तमान अनुसन्धानों से

यह सिद्ध हो चुका है कि उनका काल सातवीं शती ई०पू० या आठवीं शती ई०पू० से पूर्व नहीं माना जा सकता ।

उत्पत्ति-स्थान

भागवत् पुराण के अनुसार विष्णु के भक्त दक्षिण में ताम्रपर्णी, कृतमाला पयस्विनी, काबेरी और महानदी ॥पेरियार॥ के तट पर जन्म लेंगे ।[1] यह आश्चर्य की बात है कि नाम्मालवार और मधुर कवियालवार ताम्रपर्णी देश में जन्में। पेरियालवार ॥विष्णुचित्त॥ और उनकी पुत्री अण्डाल ॥गोदा॥ कृतमाल में पोय-गैयालवार, भूतत्तालवार, पेयरिवार और निरुभरिसै पीरान पयस्विनी में, टोण्डारादि थोंडीयालवार तिरुयाण आलवार और तिरुमंगैयालवार कावेरी में और पेरियालवार और कुलशेखर पेरुमल महानद देश में जन्मे थे । भागवत माहात्म्य में भक्ति को एक दु:खी महिला का रुपक दिया गया है जो द्रविड देश में जन्मी थी। कर्नाटक और महाराष्ट्र में प्रौढ़ा हुई तथा अपने दो पुत्र ज्ञान और वैराग्य के साथ महान् संकट काटकर गुजरात और उत्तर-भारत में वृन्दावन की यात्रा की । अनेक संकटों के कारण उसके दोनों पुत्र मर गए । भागवत पुराण के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय या वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र रहा है ।

---

1. भागवत पुराण 11:5, 38-40.

आलवारों की संख्या

आलवारों के ग्रन्थ तमिल भाषा में लिखे गए हैं और इनमें जो प्राप्त हैं वे सब रामानुज या नाथमुनि के काल में संगृहीत हुए थे । इस संग्रह में 4000 ऋचाएँ हैं जिसे 'नालापीर दिव्य प्रबन्धम्' कहते हैं । लेकिन कम से कम इसका एक भाग कुरुतलवम् या कुरुत्तम् जो कि रामानुज के प्रमुख शिष्य थे, द्वारा रचा गया था जिसके एक ग्रन्थ में दिया हुआ आलवारों का क्रम गुरु परम्परा के क्रम से भिन्न है, इसमें नाम्मालवार का पृथक उल्लेख किया गया है । पुनः रामानुज के अनुगामी व शिष्य पिल्लान् हैं जिन्होंने नाम्मालवार के तिरुवायोमोरि की टीका की है । वे एक पद्य में सभी 12 आलवारों के नाम देते हैं किन्तु उसमें अण्डाल का उल्लेख नहीं किया गया है ।[1] आचार्य पाद रामानुज के प्रमुख शिष्य पिल्लान ने एक पद्य में सभी द्वादश ॥12॥ आलवारों का उल्लेख किया है ।[2] आलवारों में कुलशेखर का नाम अग्रगण्य है । उन्होंने अपने ग्रन्थ 'मुकुन्दराममाला' में बताया है कि वे कोल्लि ॥चोल॥ की राजधानी ॥उरैयूर॥ कुदाल ॥मदुरा॥ और कोंगु के राजा थे । इन सब सन्त दार्शनिकों ने भागवत मत किंवा विशिष्टाद्वैत मत पर पर्याप्त प्रभाव डाला है ।

---

1. डॉ० एस०दास०गुप्तकृत-भारतीय दर्शन का इतिहास;3 पृष्ठ 61.

2. भूतं सरश्च महनव्य—भट्टनाथ
   श्रीभक्तिसार कुलशेखर——योगिवाहान् ।
   भक्तांघ्रिरेणु—परकालयतीन्द्रमिश्रान्
   श्रीमत् परांकुश मुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ - श्रीआयंगरकृत 'वैष्णवसम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास' से उद्धृत ।

दार्शनिकता

आलवारों की कृतियाँ साहित्यिक एवं भक्ति की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, इसलिये उन्हें तात्त्विक दृष्टि से देखना कठिन है । आलवारों ने कविताओं के माध्यम से वासुदेव कृष्ण में अपनी उत्कट भक्ति का प्रदर्शन किया है । उदाहरणार्थ नाम्मांवार के ग्रन्थ 'शठकोप'[1] में यह उल्लेख है कि प्रभु के प्रति भक्ति उनके हृदय में समा न सकी, वह उत्कट भक्ति उनकी कविताओं में फूट निकली । यह पुस्तक अभिरामवराचार्य की रचना द्रमिड़ोपनिषद् पर आधृत है ।

विशिष्टाद्वैत की तरह ही आलवारों ने दास्यभाव तथा प्रपत्ति को ही मोक्ष का साधन मान लिया है । 'नाम्म्यांवार' ने अपने चार ग्रन्थों में से प्रथम में, आवागमन से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करते हैं, दूसरे में, भगवान के महान् तथा उदार गुणों के अनुभव का वर्णन करते हैं । तीसरे ग्रन्थ में प्रभु से मिलने की उत्कण्ठा वर्णित है तथाा चौथे में, भगवान से ऐकात्म्य की अनुभूति प्रभु से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा की तुलना में कितनी कम ठहरती है । पहले के दस श्लोकों में दास्य भाव प्लावित है । इसी में विशिष्ट गुणों का वर्णन भी करते हैं । विशिष्टाद्वैत मत में भी भगवान् को सकलहेयगुणों से रहित बताया गया है । निर्गुणब्रह्म से तात्पर्य विशिष्टाद्वैत में सकलहेयगुणरहित तथा विशिष्ट गुणों से युक्त बताया गया है ।

---

1. गवर्नमेण्ट ओरियण्टल हस्तलिखित पुस्तकालय, मद्रास से प्राप्त ।

आलवारों की भक्ति के मुख्य गुणों का वर्णन करते हुए नाम्मालवार को परांकुश अथवा शठकोप भी कहा गया है । गोविन्दाचार्य ने दि डिवाइन विजडम ऑव द्राविड सेन्ट्स तथा दि होली लाइब्ज ऑव दि आलवार्स नामक ग्रन्थों में कहा है कि नाम्मालवार की मान्यतानुसार जब कोई भक्ति में परिपूर्ण समर्पणभाव से अभि-भूत हो जाता है, तब वह सरलता से सत्य को पा लेता है ।[1]

नाम्मालवार ने कहा कि मुक्ति के लिये केवल भगवत्कृपा ही चाहिए, हमें समर्पण के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना है । नाम्मालवार के प्रेम में भगवान् की तीव्र खोज प्रमुख बात थी । वे एकाकी भाव से अभिभूत हो अपने आपको खो बैठते थे । अपने प्रियतम और प्रिय कृष्ण के मिलन की आशा से उनकी चेतना सशक्त और मजबूत रहती थी ।[2]

आलवारों में तात्त्विक चिन्तन का विकास नहीं पाया जाता,उनमें केवल भगवत्प्रेम का आनन्दानुभव ही था, फिर भी हम नाम्मालवार के ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन पाते हैं । वे कहते हैं - 'इस विस्मयपूर्ण वस्तु का वर्णन करना अशक्य है, आत्मा अनन्त है, ज्ञान रूप है जिसे भगवान् अपने प्रकार के रूप में मुझे दिखाने की कृपा की है अर्थात् मेरा और भगवान् का सम्बन्ध उद्देश्य तथा विधेय जैसा, द्रव्य और गुण जैसा तथा स्वर व्यंजन जैसा है । आत्मा का स्वरूप ज्ञानियों को भी अगम्य है । इसे 'यह' और 'वह' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । योग द्वारा भी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता । 'आत्मा' दर्शन जैसा कि

---

1. जे०एस०एम० हूपरकृत 'आलवारों के गीत' पृष्ठ 35.

2. भागवतविषयम्, पृष्ठ 6,

ईश्वर ने मुझे कराया है वह शरीर इन्द्रिय प्राण मन और बुद्धि इत्यादि विकारी तत्त्वों से कहीं परे है । आत्मा सबसे विलक्षण और सूक्ष्म है । इसे अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं कहा जा सकता । आत्मा इन्द्रिय गोचर पदार्थों की कोटि में नहीं आता ।[1]

नाथमुनि, यामुनाचार्य एवम् रामानुज आदि विशिष्टाद्वैती आचार्य आलवारों से विशेष प्रभावित हुए । उन्होने आलवारों के प्रेरणात्मक उपदेशों का अनुसरण किया है । श्री रामानुज के विशेष आदेशानुसार आलवार ग्रन्थों के संकलन के अभ्यास से तथा रामानुज ने स्वयं आलवारों से अपने मत की पुष्टि में जो प्रेरणा पायी है इससे लगता है कि आलवार भी विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण के अन्तर्गत आये हुए कृष्ण-चरित्र से पूर्णतः परिचित थे ।

दिव्य प्रबन्धों का जिन्हें आलवारों ने तमिल भाषा में लिखा है । श्री वैष्णव आचार्यों पर गहरा प्रभाव हुआ है ।[2] अभयपदराज की दिव्य-प्रबन्धम् की टीका ने पीछे आने वाले आचार्यों को उत्तरकाल के रहस्यमय सिद्धान्तों को समझने में सहायता दी ।

---------::0::---------

1. द्रविड़ सन्तों का दैवी ज्ञान, पृष्ठ 189.

2. दिव्य-प्रबन्धों की संख्या 4000 है ।

सप्तम अध्याय

नाथमुनि

नाथमुनि

आलवार सन्तों के बाद और यामुनाचार्य के पूर्व के विशिष्टाद्वैत दर्शन के बारे में हम ठीक-ठीक नहीं जानते क्योंकि उनके समय के जो भी कार्य हैं वे अभी पूर्णतः प्रकाश में नहीं आये हैं, फिर भी इन अज्ञात आचार्यों की परम्परा में जिनका उल्लेख हम पाते हैं, वे हैं श्री रङ्गनाथमुनि जिन्हें नाथमुनि के नाम से जाना जाता है। इन्होंने विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रपत्तिमार्ग की प्रतिष्ठा करके श्रीवैष्णवसम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। अगीयितों के नाम नाथमुनि से ही प्रारम्भ होते हैं। इनका समय निश्चित करने में किंचित् कठिनाई होती है। 'गुरुपरम्परा' 'दिव्यसूरिचरित' और 'प्रपन्नामृत' का कहना है कि 'नाथमुनि', 'नाम्मालवार' जो 'शठकोप' या 'कोरिं-मार्रन' कहलाते थे, इनके या शायद उनके शिष्य मधुर कवियार्रवार के प्रत्यक्ष सम्पर्क में थे।

'प्रपन्नामृत' के अनुसार, नाथमुनि का जन्म चोल देश के वीरनारायण गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम ईश्वरभट्ट था। उनके एक पुत्र ईश्वर तथा एक पुत्री भी थी। वे महान् विद्वान्, दार्शनिक, संगीतज्ञ और योगी थे।[1]

---

1. नमोऽचिन्त्याद्भुताक्लिष्टज्ञानवैराग्यराशये ।
   नाथाय मुनयेऽगाधभगवद्भक्तिसिन्धवे ॥

   तस्मै नमो मधुजिदङ्घ्रिसरोजतत्त्व-
   ज्ञानानुराग महिमातिशयान्तसीम्ने ।
   नाथाय नाथमुनयेऽत्र परत्र चापि
   नित्यं यदीयचरणौशरणं मदीयम् ॥

   भूयो नमोऽपरिमिताच्युतभक्तितत्त्व,
   ज्ञानामृताब्धिपरिवाहशुभैर्वचोभिः ।
   लोके वतीर्णपरमार्थसमग्रभक्ति-
   योगाय नाथमुनये यमिनां वराय ॥ स्तोत्ररत्न, श्लोक 1-3.

देशिकशुद्धि ने नाथमुनिविजय में नाथमुनि को महान् यौगिक क्रियाओं से सम्पन्न बताया है । वे एक बार लम्बी यात्रा पर गए जिसमें उन्होंने मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार और बंगाल तथा पुरी इत्यादि उत्तर देशों का तीर्थाटन किया । घर पर वापस आकर उन्होंने पाया कि कुछ श्रीवैष्णव जो राज गोपालमंदिर में पश्चिम से आए थे, वे करिमारनक द्वारा रचित 10 पद गाते थे । नाथमुनि ने उन्हें सुना और सोचा कि वे कोई वृहद ग्रन्थ के अंश हैं इसलिए उन्होंने इसका संग्रह करने का विचार किया। वे कुम्भ को गए और भगवान् की प्रेरणा से ताम्रपर्णी के तट पर कुरका की ओर बढ़ गये जहाँ उनकी भेंट नाम्मालवार के शिष्य मधुर कवि यार्रवार से हुई और उनसे पूछा कि नाम्मालवारकृत श्लोक उपलब्ध हैं या नहीं । मधुर कवि यार्रवार ने उनसे कहा कि गीतों का एक वृहत् संग्रह लिखकर और उसका पाठ करके नाम्मालवार ने मुक्ति पा ली है इसलिए यह ग्रन्थ लोगों के जानने में आया । आसपास के लोगों को यह वेदधर्म-विरुद्ध है । इसलिए उन्होंने उसे ताम्रपर्णी में फेंक दिया । इस ग्रन्थ का एक ही पन्ना जिसमें दस श्लोक थे एक आदमी के हाथ लगा । उसने उसे संग्रह करके गाया । इस प्रकार केवल दस गीत ही बच पाये । नाथमुनि ने नाम्मालवार की आराधना में मधुर कवि यार्रवार रचित एक पद का 12 हजार बार पाठ किया जिसके फलस्वरूप नाम्मालवार ने पूरे ग्रन्थ का प्रयोजन प्रकट कर दिया । जब नाथमुनि सारे ग्रन्थ को जानना चाहते थे तब उन्हें एक कारीगर के पास जाने को कहा गया जो समस्त पदों को प्रकट करने के लिए नाम्मालवार से प्रेरित हुआ था । इस प्रकार नाथमुनि ने उस कारीगर से नाम्मालवाररचित पूरा ग्रन्थ पा लिया । उन्होंने फिर अपने शिष्य पुण्डरीकाक्ष को दिया, पुण्डरीकाक्ष ने उसे अपने शिष्य राम मिश्र को दिया, राममिश्र ने यामुन को यामुन ने गोष्ठीपूर्ण को, गोष्ठीपूर्ण ने अपनी पुत्री

देविका 'श्री' को दिया । नाथमुनि ने इन पदों का संग्रह किया और अपने दो भतीजे मेलैयांगत्तालवार और किलैयगत्तालवार की सहायता से उसे वैदिक पद्धति से संगीत का रूप दिया । इसके बाद ये पद मन्दिरों में गाए जाने लगे और इन्हें तमिल वेद के रूप में मान्यता प्राप्त हुई ।[1] किन्तु प्राचीनतम गुरु-परम्परा और 'दिव्यसूरिचरित' कहते हैं कि नाथमुनि ने नाम्मालवार का ग्रन्थ उनसे साक्षात् पाया । उत्तरकालीन श्री वैष्णवों के मत में आलवारों की प्राचीनता के साथ इस कथन का मेल नहीं बैठता और उन्होंने यह माना कि मधुर कवियारिवार नाम्मालवार के साक्षात् शिष्य नहीं थे और नाथमुनि 300 साल तक जीते रहे ।

किन्तु पहले हमने जैसा पाया है, यदि नाम्मालवार का समय नवम शताब्दी रखा जाय तो उपर्युक्त मान्यता की स्वीकृति आवश्यक नहीं है । गोपीनाथ राउ भी दशवीं शताब्दी के मध्य भाग के एक संस्कृत शिलालेख का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार इन पदों का रचयिता, श्रीनाथ का शिष्य था । अगर यह श्रीनाथ और नाथमुनि एक ही व्यक्ति हैं तो नाथमुनि का समय दसवीं शताब्दी में मानना सही है । उनके 11 शिष्य थे जिनमें पुण्डरीकाक्ष, करुकानाथ और श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे । नाथमुनि की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं[2] - 1.

---

1. प्रपन्नामृत, अध्याय 106-107.

2. वेंकटनाथ 'न्यायतत्त्व' का 'न्याय परिशुद्धि' में उल्लेख करते हैं (पृष्ठ 13) जिसमें गौतम के न्यायसूत्रों की टीका और खण्डन किया है । 'भगवान् नाथमुनिभिन्र्याय तत्त्व - समाख्या अवधीर्याक्षपादादीन् न्यबंधि न्यायपद्धतिः ।'

   - न्यायपरिशुद्धि, पृष्ठ 12.

1. न्यायतत्त्व : इसमें उन्होंने न्यायसम्प्रदाय की समालोचना की है ।

2. योगरहस्य : यह योगशास्त्र पर एक शोधग्रन्थ है । अष्टांगयोग की बारीकियों का इसमें विशद निदर्शन है ।

प्रपन्नामृत में भी नाथमुनि को एक महान् योगी भी बताया गया है । वे अष्टांग योग द्वारा योग साधना करते थे ।[1] प्रपन्नामृत का कहना है कि नाथमुनि ने आगंग नगर में (सम्भवत: गंगैरकोन्टुषो पुरम्) में योग समाधि ली । गोपीनाथ का कहना है कि उनकी इस नगर में मृत्यु नहीं हो सकती क्योंकि राजेन्द्र चोल ने जो गंगैकोण्ड सौल भी कहलाते थे । इस नगर को 1024 के पहले नहीं बसाया था जो नाथमुनि के समय के बाद होना चाहिए । नाथमुनि सम्भवत: परान्तक चोल प्रथम के राज्य में रहे होंगे और सम्भवत: परान्तक चोल द्वितीय के राज्य के पहले या उनके राज्य में उनकी मृत्यु हुई होगी।

नाथमुनि विशिष्टाद्वैतदर्शन के प्रवर्तकाचार्य के रूप में यद्यपि मान्य हैं

---

1. अष्टांग योग की साधना नाथमुनि के लिए नई नहीं थी । तिरुमुरिं से पीरान का वर्णन करते हुए प्रपन्नामृत का कहना है कि वे पहले शिवभक्त थे और उन्होंने तमिलभाषा में शैव सिद्धान्त पर कई ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु पश्चात् सन्त महर्षि ने उन्हें वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा दी तब उन्होंने वैष्णवधर्म पर कई ग्रन्थ रचे । भक्तिसार ने भी एक पांडित्य पूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो तत्त्वार्थसार कहा जाता है, इसमें विरोधी मत का खण्डन किया गया है । भक्तिसार भी अष्टांगयोग करते थे और अन्य भारतीय दर्शन में निपुण थे । भक्तिसार के कणिकृष्ण नाम का एक शिष्य था । उन्होंने विष्णु की आराधना में कई अतीव सुन्दर पद्य लिखे । कुल-शेखर पेरुमल्ल ने भी अष्टांग योग का अभ्यास किया था, ऐसा कहा जाता है ।

किन्तु इनके दार्शनिक विचार अधिक नहीं मिलते । ये केवल योग-साधना में लीन रहते थे और भगवत्भक्ति के गीत गाया करते थे । ये गीत ही इनके दार्शनिक विचार हैं । वे प्रपत्तिमार्ग के पुरोधा थे ।

परम्परानुसार कहा जाता है कि नाथमुनि श्रीरंगम के मन्दिर में भगवद्विग्रह में प्रविष्ट होकर भगवद्रूप हो गये ।

---------::0::---------

अष्टम - अध्याय

यामुनाचार्य

1. जीवनवृत्त व काल
2. कृतित्व
3. दार्शनिक विचार

(क) आत्मा

(1) देहात्मवाद का खण्डन

(2) इन्द्रियात्मवाद का खण्डन

(3) मनसात्मवाद का खण्डन

(4) ज्ञानात्मवाद का खण्डन

(5) प्राणात्मवाद का खण्डन

(6) आत्मा का स्वरूप

(7) आत्मा की अनेकता

(ख) ईश्वर तथा जगत्

(1) ईश्वर का स्वरूप

(2) ईश्वर की सिद्धि

(3) विष्णु की सर्वोच्चता

(4) विष्णु की सगुणता

(5) जगत् के मिथ्यात्व का खण्डन

(ग) भक्ति एवम् प्रपत्ति

जीवनवृत्त व काल

रामानुज पूर्व विशिष्टाद्वैत वेदान्तियों में यामुनाचार्य का स्थान सर्वप्रमुख है । रामानुज के पूर्व विशिष्टाद्वैत वेदान्त का जो भी लिखित दर्शन है वह यामुनाचार्य का ही है । यद्यपि पूर्वकाल में बोधायन वैष्णव मत के प्रतिष्ठापक माने गए हैं किन्तु ब्रह्मसूत्र पर उनकी टीका अब प्राप्त नहीं है इसलिए हम यामुनाचार्य को उत्तर कालिक वैष्णव दार्शनिकों में सर्वप्रथममान सकते हैं ।

ऐसा माना जाता है टंक, द्रमिड़ और मरुचि इत्यादि अन्य लोगों ने बोधायन की टीका के उपदेशों के आधार पर ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें अन्य सम्प्रदायों के मतों का खण्डन किया गया । द्रविड ने भाष्य लिखा जिसे श्रीवत्सांक मिश्र ने विस्तृत किया, इसका उल्लेख यामुन अनेक बार करते हैं । महात्मा बकुलाभरण ने,जो शठकोपाचार्य भी कहे जाते थे, तमिलभाषा में 'भक्ति पंथ' पर एक विशद ग्रन्थ लिखा किन्तु यह आजकल दुष्प्राप्य है । इस प्रकार आधुनिक वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास व्यावहारिक दृष्टि से यामुनाचार्य से ही प्रारम्भ होता है ।

यामुनाचार्य जो 'आलवन्दार' भी कहलाते थे, ईश्वरमुनि के पुत्र तथा नाथमुनि के पौत्र थे । ऐसा कहा जाता है कि ई0सं0 918 में संभवत: उनका जन्म हुआ था तथा ई0सं0 1080 में स्वर्गधाम पहुँचे थे । उन्होंने राममिश्र से वेदाध्ययन किया । विवाद में उनकी बड़ी ख्याति थी । एक विवाद में इनाम के रूप में आधा राज्य मिल गया । इस विवाद के बारे में प्रपन्नामृत में हमें एक कहानी मिलती है । प्रपन्नामृत के अनुसार यामुन जब बारह साल के थे, तो वहाँ के

राजा के दरबार में अक्कैअलवन नाम के एक पण्डित को खुले दरबार में उन्होंने चुनौती[1] दिया था और परास्त किया था । इस उपलक्ष्य में आधा राज्य उन्हें इनाम में दे दिया गया । जब वे राजा बन गये तब उनका विवाह किया गया और दो पुत्र वररंग, सौत्त्ठ्ठपूर्ण हुए और बहुत समय तक वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत किया तथा राम मिश्र को भूल गये । प्रपन्नामृत में एक कथा है कि जब यामुन राजा बन गये और किसी से नहीं मिलते थे, तब राममिश्र को चिन्ता हुई कि वे किस प्रकार गुरु आदेश का पालन कर यामुन को भक्तिमार्ग की दीक्षा दें । वे यामुन के रसोइए के पास गए और छह मास तक 'अलर्शशाक' नाम की सब्जी यामुन को भेंट करते रहे जो उन्हें पसन्द आई । छः माह बाद जब राजा ने पूँछा कि यह अनोखी सब्जी रसोई में कैसे आयी तो राम मिश्र चार दिनों तक नहीं आए और रड्गनाथ की स्तुति करते रहे और पूँछते रहे कि वे यामुन के पास किस प्रकार जायँ ? इस दौरान यामुन को वह सब्जी नहीं मिली और उन्होंने रसोइएँ से जब वह सब्जी लाने के लिए कहा तब राम मिश्र यामुन के पास पहुँचे । इसके बाद राममिश्र को यामुन को भगवद्गीता का अध्ययन कराने का मौका मिला जिससे उनमें ‡यामुन में‡ विरक्ति उत्पन्न हुई । फिर, राम मिश्र के साथ ही वे श्रीरड्गम गए और सर्वस्व त्यागकर महान् भक्त बन गए ।[2] राम मिश्र का अन्तिम उपदेश उन्हें यह था कि वे कुरुकानाथ ‡कुरुगैककवल अप्पन‡ के पास

----

1. चुनौती के वे शब्द थे -

आशैलादद्रिकन्याचरणकिसलयन्यासधन्योपकंठात्
आरक्षो नीतसीतामुखकमलसमुल्लासहेतोश्च सेतोः ।
आ च प्राच्यप्रतीच्यक्षितिधरयुगतदर्कचंद्रावतंसान्
मीमांसाशास्त्रयुग्मश्रमविमल मनामृगयताम् मादृशोऽन्यः ।। प्रपन्नामृत अध्याय 3.

2. वही, अध्याय 112.

जायँ और उनसे अष्टांगयोग की शिक्षा ग्रहण करें जो नाथमुनि ने उनके (यामुन के) लिए उनके पास छोड़ रखा था ।

यामुन के अनेक शिष्य थे जिनमें 29 मुख्यरूप से मान्य हैं । इनमें से महापूर्ण भारद्वाज गोत्र के थे । उनके पुण्डरीकाक्ष नामक पुत्र तथा अत्तुतयी नाम की एक पुत्री थी । दूसरा शिष्य श्री शैलपूर्ण था जो ताताचार्य नाम से भी विख्यात था । एक अन्य शिष्य गोष्ठीपूर्ण पाण्ड्य देश में जन्मा था । यहाँ श्रीमधुरा नामक नगर में यामुन के एक अन्य शिष्य मालाधर ने भी जन्म लिया था । पाण्ड्य देश के मरनेर नगर में शूद्र जाति का नरनेर नाम्बी हुआ । दूसरा शूद्रजाति का शिष्य पुनमल्लि में जन्म लिया था । यामुन अपने शिष्यों को वैष्णव सम्प्रदाय के पाँचों संस्कारों की दीक्षा दी थी और उनका राज्य श्रीरङ्गम के रङ्गनाथ की सेवा में भेंट करा दिया था। श्रीशैलपूर्ण या भूरि श्रीशैलपूर्ण या महापूर्ण के दो पुत्र, दो पुत्री और दो बहनें थीं । ज्येष्ठ बहिन कान्तिमयी केशव यज्वन के साथ व्याही थीं । जो रामानुज के पिता आसुरि केशव भी कहलाते थे । दूसरी बहिन द्युतिमति, कमलाक्ष भट्ट को व्याही थी जिनके गोविन्द नामका पुत्र हुआ । कुरेश जिनका रामानुज से बड़ा सम्पर्क रहा, वे अनन्तभट्ट की सन्तान थे । यही कुरेश, अनन्ताचार्य के पिता थे जिन्होंने 'प्रपन्नाचार्य' नामक ग्रन्थ लिखा । दाशरथि बाधुलगोत्रीय अनन्ददीक्षित और लक्ष्मी के पुत्र थे । दाशरथि के कंड्डनाथ नामक पुत्र था । ये सब रामानुज के साथी थे ।

प्रपन्नामृत में कहा गया है कि यामुन रामानुज से भेंट करने को उत्सुक थे। किन्तु जब रामानुज श्रीरङ्गम पहुँचे तो यामुन का परमपद हो चुका था । ऐसा कहा जाता है कि उस समय यामुन की तीन अँगुलियाँ टेढ़ी थीं जिससे उनकी तीन अपूर्ण

इच्छाओं का सङ्केत मिलता है । इन अपूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करना रामानुज ने अपना पुनीत कर्त्तव्य समझा और इनमें प्रमुख अपूर्ण इच्छा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की थी जिसे रामानुज ने 'श्रीभाष्य' लिखकर पूर्ण किया । इसके अतिरिक्त वे वैष्णवसम्प्रदाय में दीक्षित हुए तथा अन्य वैष्णवग्रन्थों को लिखकर शेष इच्छाएँ भी पूर्ण किए ।

कृतित्व

यामुनाचार्य ने निम्न छह ग्रन्थों की रचना की थी :-

11 स्तोत्ररत्नम् - इसे आलवन्दारस्तोत्र भी कहा जाता है । यह प्रपत्ति या आत्म समर्पण का प्रतिपादन करने वाला सुमधुर एवम् सरस 66 पद्यों का स्तोत्र है जिसमें यामुन ने भगवान के सौन्दर्य का वर्णन[1] जैसा कि पुराणों में बताया गया है, किया है । वे भगवान् के सामने अपने पाप और दोष, त्रुटियों और अवगुणों के महान् क्लेश को स्वी - कार करते हैं और उसेके लिए क्षमा-याचना करते हैं । वे कहते हैं कि भगवान् अन्य देवताओं से उत्कृष्ट और लोकोत्तर हैं । वे ही सर्वश्रेष्ठ नियामक और विश्व के धारक हैं । सम्पूर्ण शरणागति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे उनकी कृपा पर ही

---

1. उदग्रपीनांसविलम्बिकुण्डला
   लकावलीबन्धुरकम्बुकन्धरम् ।
   मुखश्रिया न्यक्कृतपूर्णनिर्मला
   मृतांशुबिम्बाम्बुरुहोज्ज्वलश्रियम् ॥
   प्रबुद्धमुग्धाम्बुजचारु लोचनम्
   सविभ्रमभ्रूलतमुज्ज्वलाधरम् ।
   शुचिस्मितं कोमलगण्डमुन्नसं
   ललाटपर्यन्तविलम्बितालकम् ॥ स्तोत्ररत्नम् श्लोक 34-35.

पूर्णतः आश्रित है । अगर भगवान् की दया व कृपा इतनी महान् है तो उनके जैसा पापी और अभागा अन्य कोई उनकी दया का पात्र नहीं हो सकता। अगर पापी नहीं तरता तो भगवान् की कृपा निरर्थक है । भगवान् को स्वयं को दयावान् अनुभव करने के लिए पापी की आवश्यकता है । यामुन आगे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार उनका मन सर्वस्व छोड़कर भगवान् के प्रति प्रगाढ रूपेण आकृष्ट होता है तथा वे अपनी नितान्त, निराश्रयता तथा पूर्ण आत्मसमर्पण का वर्णन करते हैं ।[1]

भक्त भगवान् के मिलन में विलम्ब नहीं कर सकता और उनसे मिलने के लिए अधीर हो उठता है । उसे यह असीम दुःख होता है कि भगवान् उस पर अनेकानेक सुख बरसाकर उसे अपने से दूर रखते हैं । इन श्लोकों को मूल स्वर प्रपत्ति की अभिव्यक्ति है, वेंकटनाथ ने इसे अपनी टीका में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताया है । कहते हैं कि रामानुज इन श्लोकों को पढ़कर यामुन के प्रति बहुत आकृष्ट हुए थे ।

2. <u>चतुश्लोकी</u> - यामुनाचार्य ने चतुश्लोकी में श्री या लक्ष्मी की स्तुति में केवल चार श्लोक लिखे हैं । वेंकटनाथ ने चतुश्लोकी पर रहस्यरक्षा नाम की एक सुन्दर व सुस्पष्ट टीका लिखी है ।

---

1. न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
   न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
   अकिञ्चनोऽनन्यगतिश्शरण्यः
   त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥
   न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके
   सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
   सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
   क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥ स्तोत्ररत्नम्, श्लोक 22-23.

3. <u>आगम प्रामाण्यम्</u> :- यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्यम्' में पाञ्चरात्र साहित्य की प्राचीनता और निर्विवाद प्रामाणिकता स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो श्रीवैष्णवों की संहिता है । यामुन ने इसमें पाञ्चरात्र आगम को वेदों के समकक्ष बताया है ।

4. <u>सिद्धित्रय</u> :- यह यामुनाचार्य का प्रमुख ग्रन्थ है । इसमें यामुन ने विशिष्टाद्वैत दर्शन के सिद्धान्तों की व्याख्या की है । इसमें उन्होंने आलवार सन्तों के उपदेशों को दार्शनिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया है । उनके अनुसार तीन तत्त्व हैं - एक तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर, दूसरा स्वचेतन जीव या आत्मा तथा तीसरा जड़ जगत्, यामुन ने इसमें न्याय के समान ईश्वर की सिद्धिजगत् कारण के रूप में तर्क द्वारा भी की है जबकि रामानुज ने यामुनाचार्य के मत का संशोधन करते हुए जीव और जगत् को (चित् और अचित् को) ईश्वर का शरीर बताया है तथा यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वर की सिद्धि तर्क या अनुमान से नहीं हो सकती केवल आगम या शास्त्र से ही हो सकती है ।

5. <u>गीतार्थ सङ्ग्रह</u> :- इसमें यामुन ने भक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित किया है । उनके अनुसार भक्ति ही जीवन के उच्च ध्येय को पाने का साधन है जो शास्त्रोक्त धर्म पालन तथा स्वधर्म के ज्ञान से उत्पन्न होती है ।[1] यामुन के अनुसार गीता में योग को भक्तियोग कहा गया है इसलिए गीता का अंतिम ध्येय

---

1. स्वधर्मज्ञानवैराग्यं साध्यमत्त्येक गोचर: ।
   नारायण: परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समूदित: ॥ गीतार्थसङ्ग्रह, पद 1.

साध्य रूप में भक्ति का महत्त्व प्रतिपादन करना है जिसके लिए शास्त्रोक्त धर्म पालन करना तथा भगवदाश्रित आत्मा की सही आध्यात्मिक प्रकृति का ज्ञान करना एक प्रारम्भिक भूमिका है ।

6. <u>महापुरूष निर्णय</u> :- यह भी यामुन की कृति मानी जाती है । इसका उद्देश्य विष्णु को शिव से श्रेष्ठ प्रमाणित करना है । किन्तु प्रकाशित न होने के कारण इसके विषय में अधिक जानकारी नहीं दी जा सकती । इसके अतिरिक्त 'कश्मीरागम'[1] भी उनकी कृति मानी जाती है, यह अद्यावधि प्रकाशित नहीं है अत: इसके बारे में कुछ बता पाना संभव नहीं है ।

यामुनाचार्य के दार्शनिक विचार

आत्मा :-

चार्वाक से लेकर अद्यावधि भारतीय दार्शनिकों ने आत्मतत्त्व पर विचार-विमर्श किया है । चार्वाकों का मत था कि यह चतुर्भूत-संयुत[2] शरीर ही आत्मा है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है । इनमें कुछ लोग इन्द्रियों को आत्मा मानते थे और कुछ लोग मनस् को ।

---

1. डॉ0 एस0एन0 दास गुप्त कृत 'भारतीय दर्शन का इतिहास' खण्ड 3, पृष्ठ पर उद्धृत ।
2. अथ तत्त्वम् व्याख्यास्याम: ॥ 1 ॥ पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्त्वानि ॥ 2 ॥ तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्योमदशक्तिवत् ॥ 3 ॥ सिद्धित्रयम्, कारिका-2.

यामुनाचार्य का दर्शन स्पष्टतः चार्वाकों के विरुद्ध था । यामुनाचार्य आत्मा का स्वचैतन्यत्व स्वीकार करते हैं । जीवात्मा की स्वप्रकाशता और ज्ञान-मयता में स्मृति प्रमाण है कि - 'आत्मा ज्ञानमयोऽमलः '[1] । उन्होंने अपने ग्रन्थ सिद्धित्रय के 'आत्मसिद्धि ' प्रकरण में स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा और परम तत्त्व के बारे में अनेक मत हैं, अतः इन समस्त मतमतान्तरों की परिशुद्धि के लिए मैं आत्मा की सिद्धि कर रहा हूँ ।[2] 'सिद्धित्रय ' में उन्होंने चार्वाकों तथा अन्य दार्शनिकों के आत्म-सिद्धान्त की उद्भावना की है ।[3] इसके बाद इन मतों का क्रमशः निरसन भी किया है –

----

1. विष्णुपुराण, पृष्ठ 6/7/22.

2. विरुद्धमतयोऽनेकाः सन्त्यात्मपरमात्मनोः ।
   अतस्तत्परिशुद्ध्यर्थमात्मसिद्धिर्विधीयते ॥ - सिद्धित्रयम्, कारिका 2.

3. 'तत्रास्मिन्नात्मनि परस्मिंश्चानेकधा विप्रतिपत्तयः तीर्थंकराणाम् । तद्यथा - आत्मविषये तावद् देहमेव केचिदात्मानमाचक्षते । इन्द्रियाण्यन्ये । प्राणमपरे । अध्यस्तज्ञातभावमनहङ्कारं बोधमात्रमितरे । देहेन्द्रियमनः प्राणबोधविलक्षणमाकाशा-दिवदचित्स्वभावमागन्तुकबोधसुखदुःखाद्यसाधारणगुणाधारमहाङ्कारगोचरमपरे । अपरे तु बोधैकस्वभावमेव, स्वभावधवलमिवस्फटिकमणिमुपधानविशेषापादितारुणिम-गुणादिनिर्भासमन्तःकरणोपधानापादितरागद्वेषसुखदुःखाद्यशिवगुणनिर्भासमनुदिता-नस्तमितस्वरूपप्रकाशं स्वयंज्योतिषमिममभिदधति अन्ये तु ज्ञानानन्दस्वभावम् ।
   - वही, उपोद्घातप्रकरणम्, पृष्ठ 5-6.

(क) देहात्मवाद का खण्डन

चार्वाकों का कहना है कि शरीर ही आत्मा है जबकि यामुनाचार्य स्वचैतन्य आत्मा को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मा देह से विलक्षण, नित्य और आनन्द स्वभाव वाला है। यह स्वभावतः सुखात्मक है[1] दुःखात्मकता तो उपाधिमात्र है।

यामुनाचार्य के अनुसार हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान - 'अहं जानामि' स्पष्टतया इदं मम शरीरम्' इस ज्ञान से विलक्षण है और ज्ञातारूप से आत्मा का ही निर्देश करता है। 'यह मेरा शरीर है'— यह ज्ञान 'यह घट है' 'यह पट है' इस विषय रूप ज्ञान जैसा ही है।[2] वे कहते हैं कि जब मैं बाह्य विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींचता हूँ और अपने आपमें ध्यानस्थ होता हूँ तब भी मुझे (अहं) का ज्ञान रहता है। जो मेरे हाथ पाँव तथा अन्य (अंगों में किंचित् सम्बन्ध के बिना उदित है। अपना सारा शरीर प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता, जैसा कि देहात्मवादी चार्वाक कहते हैं, क्योंकि शरीर का कोई भी अंग उसमें प्रकाशित या प्रकट नहीं होता।

---

1. देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्योऽन्योऽनन्यसाधनः।
   नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी ॥ सिद्धित्रयम्, कारिका 3, पृ016.

2. अहं जानामीति प्रत्यग्वृत्तिरहमिति मतिदिङ्कारगोचराच्छरीरनिष्कृष्टमेव स्वविषयमुपस्थापयति घटादेरिव। पराग्वृत्तिरिदमिति शरीरविषयिणी च शेमुषी स्वविषयमहङ्कारगोचराद्विवेचयति यथाऽयं घट इति।

   - वही, पृष्ठ 27.

जब कभी भी मैं कहता हूँ कि मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, तो मैं यह प्रत्यय बाह्य 'मोटे' या 'पतले' शरीर का निर्देश नहीं करता[1] वरन् वह मुझमें ही किसी अज्ञात तत्त्व की ओर संकेत करता है जो शरीर से गलती से सम्बद्ध हो गया है । हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हम 'यह मेरा देह है' ठीक उसी प्रकार कहते हैं जैसे यह मेरा गेह है' कहते हैं । किन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि हम 'मेरी आत्मा है' ऐसा भी कह सकते हैं लेकिन यह तो भाषायी प्रयोग है जिसके द्वारा भेद व्यक्त होता है । वस्तुतस्तु ज्ञान का विषय एक है ।

मैं यह प्रत्यय 'शरीर को निर्देश करता है । यह असंदिग्धता या भ्रम इसलिए है कि आत्मा का दृश्य रूप उपलब्ध नहीं है जैसा कि अन्य पदार्थों, जैसे घट, पटादि का होता है जिससे कि वे एक दूसरे से व्यावृत्त किये जा सकते हैं । यामुनाचार्य कहते हैं कि जिसमें पूर्ण विवेक जागृत नहीं है उसे अरूप आत्मा संतोष नहीं होता[2] इसलिए वे शरीर को आत्मा मानने के भ्रमजाल में पड़े रहते हैं ।

---

1. यत्तु स्थूलोऽहं, कृशोऽहंमिति, शरीरेऽहं प्रत्ययो दृश्यत इति तदपि पर्यालोचनीयम् । तत्रात्यन्त: शरीरमहंकारमेव किमपि वस्तु अहङ्कारो गोचरयति । न पुन: चाक्षुष एव देहप्रत्यय: स्थौल्यबाल्यादियोगिदेहमात्रम् ।
   - सिद्धित्रय, पृष्ठ 30.

2. बाह्यविषयेषु परस्पर विरुद्धरूपपरिमाणसङ्ख्यासन्निवेशग्रहणेन व्यतिरेकस्य स्फुटत्वात् । आत्मनि तादृशरूपान्तराग्रहणेन देहाभेद प्रतिभासभ्रमोऽविवेकिनाम् ।
   - वही, पृष्ठ 31.

विशेषत: इसलिए कि जीव की प्रत्येक इच्छा के अनुरूप देह में भी परिवर्तन होता है ।[1]

देहात्मवादी ऐसा सोचते हैं कि चित्त के परिवर्तन के साथ देह में भी स्नायविक तथा भौतिक परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए शरीर के सिवाय कोई अन्य आत्मा नहीं है किन्तु ऐसा नहीं है । यदि हम 'मैं क्या हूँ ?' इसे जानने का गहन आत्मनिरीक्षण करें तो पता चलता है कि जिसे 'मैं' कहते हैं वह तत्त्व ज्ञाता है और जिन्हें इदं या तद् द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है, उससे विलक्षण हैं । अगर अहं प्रत्यय शरीर को भी निर्देश करता है तो शरीर का कोई भी अंग इस प्रत्यय से प्रकट होता, जैसे कि बाह्यवस्तु उनके अनुरूप प्रत्यय से 'इदं' (यह) और तद् (वह) के रूप में प्रकट होती है किन्तु ऐसा नहीं होता । बल्कि अन्तर्निरीक्षण से यह पता चलता है कि आत्मतत्त्व स्वरूपत: स्वतन्त्र है । संसार की समस्त वस्तुएँ मेरे लिए (आत्मा के लिए) हैं । मैं भोक्ता हूँ तथा अन्य पदार्थ मेरे भोग्य हैं । संसार की समस्त वस्तुएँ मेरे लिए (आत्मा के लिए) हैं । मैं भोक्ता हूँ तथा अन्य पदार्थ मेरे भोग्य हैं । मैं किसी अन्य के लिए नहीं हूँ । मैं अपना साध्य तथा प्रयोजन स्वयं हूँ । किसी का साधन कभी नहीं बनता । संघात एक दूसरे के लिए हैं जिसका वे स्वार्थसाधन करते हैं । आत्मा संघात रूप नहीं है और न किसी अन्य

---

1. इतश्च - इच्छानुविधायिस्वव्यापारो यमात्मा । इच्छयैव हि सङ्कल्पयति स्मरति अभ्यूहति च । शरीरमपि तदिच्छानुविधायिशयनासनोत्थानादिचेष्ट-मिति भवत्यभेदभ्रमः, शुक्तिरजतादाविव । सिद्धित्रयम् पृष्ठ 32.

के स्वार्थ के लिए अस्तित्व रखता है ।[1]

यामुनाचार्य बृहस्पतिसूत्र[2] का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि चेतना देह का कार्य नहीं हो सकता क्योंकि चेतना एक मादक द्रव्य जैसा, चार तत्त्वों [पृथ्वी, जल, तेज, वायु] का कार्य नहीं माना जा सकता है । चारों तत्त्वों में हर कोई शक्ति नहीं पैदा कर सकता । कारण, शक्ति की भी मर्यादा होती है वह एक सीमा में ही कार्य उत्पन्न कर सकती है[3] किन्तु चैतन्य ऐसा नहीं है । अगर चैतन्य कोई रासायनिक मिश्रण का कार्य होता, जैसा कि चूना और कत्था का मिश्रण लाल रंग होता है, तो चैतन्य के अणु भी पैदा हो सकते थे । इस प्रकार हमारी चेतना इस चेतन परमाणुओं का संघात होती है जैसा कि रासायनिक मिश्रण से होता है । कत्थे व चूने के मिश्रण से उत्पन्न, लाल रंग उस पदार्थ में अस्तित्व रखता है जिसका प्रत्येक अणु लाल है । अगर चेतना इस देह के द्रव्य का रासायनिक कार्य है तो उसमें कुछ चेतना के अणु उत्पन्न होते और हमें प्रत्येक परमाणु में अनेक आत्माओं का अनुभव होता है । अतः यह मानना पड़ेगा कि चेतना आत्मा का गुण है । वह आत्मा में रहती है न कि देह में ।

----

1. किऽच - अपरार्थं स्वमात्मानमात्मार्थेऽन्यच्चजानतः

   सङ्घातत्वात् परार्थेऽस्मिन् देहे कथमिवात्मधीः। सिद्धित्रयम् कारिका 5

2. पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तेभ्यश्चैतन्यम्, किण्वादिभ्यो, मदशक्तिवदिति - बृहस्पतिसूत्र

3. शक्तेरविशेषगुणत्वेन तथोपपत्तेः । सर्वद्रव्येषु तत्तत्कार्यसमधिगम्यः तत्प्रतियोगी शक्त्याख्योगुणः साधारणः । सिद्धित्रयम् पृष्ठ 37.

इन्द्रियात्मवाद का खण्डन

यामुनाचार्य इन्द्रियात्मवाद का खण्डन करते हैं कि इन्द्रियों को आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि जो चेतन है वही आत्मा है और इन्द्रियों को चेतन नहीं माना जा सकता। यदि इन्द्रियों में चैतन्य स्वीकार करें तो किसी इन्द्रिय के नाश होने पर, उस इन्द्रिय के अनुभव की स्मृति भी नहीं होनी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। व्यक्ति अन्धा होने पर भी जीवित रहता है और उसे उस विकृत इन्द्रियकृत कार्यों की स्मृति बनी रहती है अतः इन्द्रियों को चेतन या आत्मा कहना सर्वथा अनुपपन्न है।

मनसात्मवाद का खण्डन

यामुनाचार्य मन को आत्मा मानने वालों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि मन को आत्मा नहीं कह सकते क्योंकि मनस् के ही कारण ज्ञान एक साथ उत्पन्न न होकर क्रमशः उत्पन्न होता है। अपि च, आत्मा मन से भिन्न है क्योंकि आत्मा कर्त्ता है और मन 'करण' है। मन की करणता श्रुति और अनुमान दोनों से प्रमाणित है - मनसा ह्येवानुपश्यति अर्थात् मन से ही (आत्मा) देखता है।

ज्ञानात्मवाद का खण्डन

ज्ञान को आत्मा मानने वाले विद्वानों के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग विज्ञानवादी बौद्धों का है। उनके अनुसार संविद् (ज्ञान) अजड़ होने से स्वतः प्रकाश्य है तथा विषय को भी प्रकाशित करता है अतः यह संवित् ही आत्मा है किन्तु यामुनाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि अगर ज्ञान का कोई नित्य

स्थान नहीं माना जाता तो व्यक्ति में एकत्व का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा क्षणिक स्वतः प्रकाश्य ज्ञान से नहीं समझायी जा सकती अगर प्रत्येक ज्ञान क्षणिक है तो वहाँ कोई व्यक्ति है ही नहीं, ज्ञान मात्र क्षणों का प्रवाह ही है । ऐसी स्थिति में वर्तमान काल के अनुभव का भूतकाल के अनुभव के साथ तादात्म्य कैसे बैठाया जा सकता है ।[1]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार कूटस्थ, नित्य, निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध, संवित् (ज्ञान) ही आत्मा है । यामुनाचार्य इसका खण्डन करते हैं और इस मत को समस्त अनुभवों के विरुद्ध मानते हैं । उनका कहना है कि लोक में जो ज्ञान 'अहं जानामि' इत्यादिरूपेण अनुभूत होता है, वह विषय और आश्रय से युक्त ही अनुभूत होता है। विषयाश्रयशून्य ज्ञान के अनुभूत न होने के कारण अद्वैतसम्मत ज्ञान अप्रामाणिक है ।[2] अतः अहं प्रतीतिविषयक आत्मा नहीं बन सकता लोक में 'अहं जानामि' इस प्रकार धात्वर्थ के रूप में जो ज्ञान अनुभूत होता है वह ज्ञातृत्व और स्थिरत्व से रहित है । यह अस्थिर ज्ञान 'स एवाहम्' इसका प्रति सन्धान न कर सकने के कारण आत्मा नहीं हो सकता, अतएव सिद्ध है कि आत्मा विषयाश्रय शून्य केवल ज्ञान (संवित्) से पृथक् है ।

---

1. क्षणभङ्गिनी प्रतिविषयमन्यान्या च संविच्च कास्ति ? सैव चेदात्मा पूर्वेद्युर्दृष्ट-मपरेद्युरहमिदमदर्शमिति कथमिव प्रत्यभिजानीयात् ? सिद्धित्रयम् पृष्ठ 64.

2. तदिदमलौकिकमवैदिकं च दर्शनमित्यात्मविदः । तथाहि संविदिति स्वाश्रयं प्रति सत्तयैव कस्यचित्प्रकाशनशीलो ज्ञानावगत्यनुभूत्यादि पदपर्यायनामा सकर्मकः संवेदितुरात्मनः धर्मो प्रसिद्धः । तथैवसर्वप्रमाणभूतप्रत्यात्मसिद्धोऽयमनुभवः 'अहमिदं संवेद्मीति । वही, पृष्ठ 70.

प्राणात्मवाद का खण्डन

प्राण भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि 'मेरे प्राण हैं' इस प्रतीति से प्राणात्मत्व का खण्डन हो जाता है । इसके अतिरिक्त जो दोष अनेकावयव संघात रूप शरीर को आत्मा मानने में है वही दोष वायुवयव संघात रूप प्राण के भी आत्मा मानने पर होने लगेगा । 'प्राणोऽस्मिप्रज्ञात्मा'[1] का अभिप्राय प्राणात्मत्व में नहीं अपितु प्राणविशिष्ट प्रज्ञात्मा में है । किञ्च यामुनाचार्य कहते हैं :-

निरस्तो देह चैतन्यप्रतिषेधप्रकारतः ।
प्राणात्मवादो न पृथक् प्रयोजयति दूषणम् ।[2]

इस प्रकार जीवात्मा देह, इन्द्रिय, मन, केवल ज्ञान और प्राणादि से विलक्षण, भोक्ता, स्वयंप्रकाश, नित्य तथा अणुरूप है ।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा स्वयं प्रकाश्य तथा नित्य है । आत्मा की स्वयं प्रकाशता से तात्पर्य अपने लिए स्वतः प्रकाशित होने से है जिसका स्वरूप 'अयमहमं' ऐसा है । इसीलिए जीवात्मा को प्रत्यक् भी कहा जाता है । इस पर शङ्का उत्पन्न होती है कि क्या प्रत्यक्त्व आत्मस्वरूप है ? अथवा आत्मा में स्थित कोई धर्म है ?

---

1. कौषीतक्युपनिषद् 3/9.

2. सिद्धित्रय , कारिका 9, पृष्ठ 56.

पूर्वपक्षी के अनुसार इन दोनों पक्षों में दोष है । प्रत्यक्त्व तथा आत्मा में अभेद मानने पर दोनों में विशेष्य विशेषण भाव तथा धर्माधार्मभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि अभेद में विशेषण विशेष्यभाव माना जाय तो 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः'[1] 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमभिधीयते'[2] इत्यादि ब्रह्मसूत्रों में विरोध होगा । इन सूत्रों की सार्थकता तभी है जब अभेदस्थल में विशेषण, विशेष्य भाव न हो । इस प्रकार प्रथम पक्ष तो अग्राह्य है । प्रत्यक्त्व को आत्मा का धर्म मानने पर तो आत्मा स्वप्रकाश होने से स्वयं को ही प्रकाशित कर सकता है । अपने से व्यतिरिक्त प्रत्यक्त्व को प्रकाशित नहीं कर सकता । यदि मान लिया जाय कि 'धर्मभूतज्ञान' के समान वह स्वव्यतिरिक्त पदार्थों का प्रकाश होगा तो भी आत्मा को विषयी मानना होगा जो अयुक्त है क्योंकि विषयित्व धर्मभूतज्ञान का और प्रत्यक्त्व आत्मा का असाधारण धर्म है । अतः दोनों विकल्पों के दूषित होने के कारण निर्वाह कैसे होगा ? इस शङ्का का समाधान है कि प्रत्यक्त्व आत्मा का धर्म ही है, प्रत्यक्त्व के प्रकाशन से आत्मा का विषयी होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विषयित्व का स्वरूप है कि अपने में अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध से रहने वाले धर्मों को छोड़कर इतर पदार्थों का प्रकाशक होना ।

आत्मा के स्वतःसिद्धत्व स्वचैतन्यत्व तथा स्वप्रकाशत्व के बारे में यामुनाचार्य कहते हैं कि वह अनुमान और आगम (शास्त्रप्रमाण) से जाना जाता हुआ भी योगज - प्रत्यक्ष से स्पष्ट प्रकाशित होता है :-

> एवमात्मा स्वतःसिद्धयन्नागमेनानुमानतः ।
> योगाभ्यासभुवा स्पष्टं प्रत्यक्षेण प्रकाश्यते ।।[3]

---

1. ब्रह्मसूत्र 1/1/22.
2. वही, 1/2/21.
3. सिद्धित्रय, कारिका 43.

श्रुतियाँ कहती हैं - एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । प्रश्नोपनिषद् 4/9

अर्थात् यह पुरुष दर्शन करने वाला, सुनने वाला, रस चखने वाला, गन्ध सूँघने वाला, मनन करने वाला, समझने वाला, कर्ता एवं विज्ञानरूप है । इस प्रकार रामानुज के अनुसार भी जीवात्मा की स्वयं प्रकाशता श्रुतिस्मृति और अनुमान दोनों प्रकार से सिद्ध हैं । यामुनाचार्य भी आत्मा को स्वयं प्रकाश सिद्ध करते हैं ।[1]

आत्मा की अनेकता

विशिष्टाद्वैत दर्शन में आत्मा या जीवात्मा की अनेकता सिद्धि की गयी है जिसका अभिप्राय है कि प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न जीव हैं । यामुनाचार्य ने भी आत्मा की अनेकता स्वीकार की है । वे कहते हैं :-

देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योऽन्योऽन्यसाधनः ।

नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नःस्वतःसुखी ॥ सिद्धित्रय कारिका 3.

जीव की इसी अनेकता को न्यायवैशेषिकों ने 'नानात्मानो व्यवस्थितः'[2] सूत्र द्वारा स्वीकार किया है, जिसका आशय है कि सुख, दुःख इत्यादि की व्यवस्था होने से आत्मा अनेक है । साङ्ख्य मतावलम्बी भी -

'जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ - सांख्यकारिका 18. इस कारिका

---

1. स्वतः सिद्धप्रकाशत्वमप्यस्य ज्ञातृभावतः ।
   अज्ञातृत्वेन हि व्याप्ताःपरायत्त प्रकाशिता ॥ सिद्धित्रय कारिका 28.

2. वैशेषिक सूत्र 3/2/20.

के द्वारा, जिसका आशय है कि जन्म, मृत्यु और इन्द्रियों की व्यवस्था से एक साथ प्रवृत्त न होने से, त्रैगुण्य की विषमता से पुरुष की अनेकता सिद्ध है, जीवात्मा की अनेकता प्रतिपादित करते हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट आत्मा (जीव) नित्य होता हुआ अपने आधार नियामक, शरीरी, अंशी और प्रकारीभूत ब्रह्म से अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध में नित्य सम्बद्ध है। ब्रह्म व्यतिरिक्त उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। वह स्वकृत पूर्वकर्मों के आधार पर विभिन्न शरीर प्राप्त करके कर्मजन्य भोगों का भोग करता है। इनके कर्मकृत भोगों के समाप्ति के पश्चात् भी जीव स्थूल शरीर को छोड़-कर सूक्ष्म शरीर के साथ अर्चिरादि मार्गों द्वारा लोकान्तर गमन करता है।

ईश्वर एवं जगत्

ईश्वर का स्वरूप

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर को जीव और जगत् से विशिष्ट स्वीकार किया गया है। यामुनाचार्य ने भी ईश्वर को सविशेष, सगुण आदि नामों से पुकारा है। यही ईश्वर 'ब्रह्म' इस अपर नाम से जाना जाता है। यह ब्रह्म या ईश्वर एक होते हुए भी चिद्रूप जीव तथा जड़ प्रकृति से युक्त है। जीव और प्रकृति की सत्ता ब्रह्म से पृथक नहीं है। ब्रह्मान्तर्गत जीव तथा प्रकृति की सत्ता स्वीकार करने के कारण ब्रह्म के स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं। स्वगत भेद से अभिप्राय वृक्ष की अपनी शाखाओं और पत्रों के भेद आदि से है। यह सर्वज्ञ व सर्व-शक्तिमान् है।

ईश्वर की सिद्धि

ईश्वर की सिद्धि के प्रसंग में यामुनाचार्य ने सर्वप्रथम मीमांसकों के अनीश्वर

वादी मत की उद्‌भावना करके उसका खण्डन किया है । मीमांसकों का कहना है कि सर्वज्ञ ईश्वर नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी धारणा सिद्ध नहीं की जा सकती और ऐसी धारण के विरोध में अनेक तर्क भी दिये जा सकते हैं । फिर प्रश्न उठता है कि ऐसे सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष कैसे हो निश्चय ही यह साधारण प्रत्यक्ष साधनों द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि साधारण प्रत्यक्ष सभी वस्तुओं के भूत और वर्तमान का ज्ञान नहीं दे सकता जो इन्द्रियों की मर्यादा से पहले और परे है । योगियों को प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है ऐसा मानते हैं । उसे भी माना नहीं जा सकता । योगी इन्द्रियों की मर्यादा के परे भी वस्तुओं को जाने, यह अशक्य है ।[1] मीमांसक आगे कहते हैं कि यदि अन्त:करण ऐसा है कि वह इन्द्रियों की समस्त वस्तुओं को विना इन्द्रियों के जाने तो फिर इन्द्रियों की आवश्यकता ही क्या है ? यद्यपि हम गहन ध्यान द्वारा पदार्थ को स्पष्ट देख सकते हैं किन्तु आँखों से हम सुन नहीं सकते और विना इन्द्रिय के ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । इसलिए सर्वज्ञता शक्य नहीं है और हमने अपनी इन्द्रिय द्वारा किसी ऐसी सर्वज्ञ व्यक्ति या ईश्वर को नहीं देखा । मीमांसकों का कहना है कि ईश्वर का अस्तित्व अनुमान से भी प्रमाणित नहीं होता क्योंकि वह दृश्य पदार्थों से परे है । हम किसी हेतु को भी नहीं देख सकते जो उसके साथ सम्बन्ध रखता है और जिसके कारण उसे ईश्वर के अनुमान का विषय बना सके ।

---

1. 'प्रत्यक्षत्वे तदप्येकं विद्यमानैकगोचरम् ।
भूतादिगोचरम् नैव प्रत्यक्षं प्रतिभादिवत् ।। सिद्धित्रय (ईश्वर सिद्धि) कारिका 3.

नैयायिक ऐसा तर्क करते हैं कि यह अणु के परिमाण से बना हुआ जगत् कार्य होना चाहिए और फिर तर्क करते हैं कि अन्य कार्य की तरह जगत् भी ज्ञानवान् पुरुष के निरीक्षण में बना होगा जिसे जगत् के द्रव्य का साक्षात् अनुभव है किन्तु मीमांसकादि अनीश्वरवादी कहते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि ऐसा सोचा जा सकता है कि परमाणु आदि का इस वर्तमान रूप में संयोग जगत् के सारे मनुष्यों के अदृष्ट कर्मों द्वारा हुआ है । पाप और पुण्य हम सब में होते हैं और वे जगत् की गति को ढालते हैं यद्यपि हम इसे देख नहीं सकते । इस प्रकार जगत् को मुनुष्य के कर्मों का परिणाम कहा जा सकता है, ईश्वर का नहीं जिसे किसी ने कभी नहीं देखा है । इसके बाद मीमांसकों का कहना है कि जिसे कोई इच्छापूर्ति करने को नहीं है वह जगत् को क्यों उत्पन्न करेगा?

यामुनाचार्य मीमांसकों के उपर्युक्त अनीश्वरवाद का खण्डन न्याय की पद्धति (तर्क) से करने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि जगत् ज्ञानवान् पुरुष द्वारा उत्पन्न हुआ जानना चाहिए जिसे द्रव्य का साक्षात् ज्ञान है उसे मनुष्य के धर्माधर्म का साक्षात् ज्ञान है जिसके अनुसार वह जगत् का निर्माण करता है और यह नियंत्रण करता है कि जिससे प्रत्येक वही अनुभव करे जिसके वह योग्य है । वह केवल अपने संकल्प द्वारा जगत् को गति देता है । उसके शरीर नहीं है किन्तु तब भी वह अपने मनस् द्वारा संकल्प व्यापार करता है ।[1]

---

1. मनसो नित्येन्द्रियतया देहापगमेऽपि सम्बन्धाभ्युपगमादनैकान्तिकश्च । यावद्धि दृष्टानुगुणं व्याप्त्युपगमे पि, तावदनुज्ञायते । न चास्मदादेर्मनसाऽप्यचिन्त्यरचनस्यापर्यन्तविस्तारस्य महाभूतभौतिकप्रपचस्यप्रादेशिकशरीरक: किञ्चिज्ज्ञ: पुण्यपापपरवशगतिरलं निर्माणायेत्यपरिमितज्ञानैश्वर्यशक्ति: शरीराद्यनपेक्ष: सङ्कल्पादेव सकलभुवननिर्माणक्षम: कर्त्ता सिद्ध: । सिद्धित्रय, पृष्ठ 26।.

विष्णु की सर्वोच्चता

विशिष्टाद्वैवेदान्त में ब्रह्म या ईश्वर का तात्पर्य केवल भगवान् नारायण अर्थात् विष णु से है क्योंकि सभी श्रुतियाँ स्मृतियाँ पुराण आदि परम तत्त्व के रूप में उन्हीं का वर्णन करतें हैं। श्रुतियों में परम कारण के रूप में गृहीत 'सत्',[1] ब्रह्म[2] आत्मा[3] आदि शब्दों द्वारा नारायण का ही उल्लेख छागपशुन्याय से हुआ है, इसका अभिप्राय है कि सच्छन्द का बृहद् और अबृहद दोनों में साधारण होने के कारण बृहदर्थक ब्रह्मरूप विशेष, चेतन और अचेतन दोनों में सामान्यरूपेण गृहीत चेतनपरक आत्मा रूप विशेष में तथा समस्त चेतनों हेतु प्रयुज्यमान आत्मा का नारायण रूप विशेष शब्द में पर्यवसान होने के कारण नारायण का ही बोध सत् ब्रह्म या आत्मा आदि शब्दों के द्वारा होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी उल्लिखित अक्षर शिव, शम्भु, हिरण्यगर्भ, परब्रह्म, परंज्योति, परतत्त्व, परमात्मादि शब्दों का पर्यवसान उन उन गुणों से विशिष्ट होने के कारण नारायण में ही होता है। यामुनाचार्य ने यहाँ 'महापुरुष निर्णय'[4] नामक अपने ग्रन्थ में विशदरूप से शास्त्रों के तर्कों की विवेचना करते हुए यह बताने की कोशिश की है उपनिषद् और पुराणों में कहे गए महान् दैवी पुरुष नारायण ही हैं।

---

1. सदेव सोम्येदमग्र आसीत् - छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1.
2. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति - तैत्तिरीयोपनिषद्।
3. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्। ऐतरेयोपनिषद्।
4. एको ह वै नारायण आसीत्, न ब्रह्मा, नेमे द्यावापृथिवी। महोपनिषद् 1/1

यामुनाचार्य ने उक्त त्र्युपन्त वाक्यों के अनुरूप ही नारायण को परमतत्त्व स्वीकार करते हैं :-

स्वाभाविका नवधिकातिशयेशितृत्वं
नारायणत्वयि न मृष्यति वैदिकःकः।
ब्रह्माशिवश्शतमखः परमस्वराडि-
त्येतेऽपि यस्य महिमार्णव विप्रुषस्ते ॥ स्तोत्ररत्न, श्लोक 14.

अर्थात् समस्त चेतनाचेतनों के आश्रय हे नारायण ! ब्रह्मा, शिव, इन्द्र एवम् मुक्त जीव - ये सब आपकी महिमा रूपी सागर के कणमात्र हैं । ऐसे महामहिमामय आपके विषय में स्वभावसिद्ध तथा सीमातीत अतिशय ऐश्वर्य को कौन वैदिक न मानेगा अर्थात् जो व्यक्ति आपके स्वाभाविक निःसीम, अतिशय स्वामित्व को न माने वह अवैदिक है, अर्थात् आस्तिक नहीं है । वे आगे कहते हैं :-

कश्श्रीः श्रियः परमतत्त्व समाश्रयः कः
कः पुण्डरीकनयनः पुरुषोत्तमः कः ।
कस्या युतायुतशतैक कलांश कांशे
विश्वं विचित्रचिदचित्प्रविभागवृत्तम् ॥ स्तोत्ररत्न, श्लोक 15.

अर्थात् श्रीलक्ष्मी जी की भी श्री अर्थात् शोभा का आश्रय कौन है ? रजोगुण और तमोगुण से असंपृक्त शुद्ध सत्त्वं गुण का आश्रय कौन है ? कमल के सदृश विशाल एवम् मनोहर नेत्र वाला कौन है ? किसके हज़ारों करोड़ों भागों के एक भाग के भी अत्यल्प भाग में अर्थात् किसके महान् श्रीविग्रह के एक एक रोये के छिद्र में असंख्य

ब्रह्माण्ड लटके हुए हैं ? इन ब्रह्माण्डों में भी देव मनुष्य तिर्यक् स्थावर उनके अनुरूप ज्ञान क्रिया और इसी प्रकार अचेतन वर्ग भी भोग्य, भोगोपकरण, भोगस्थान रूप विविध विचित्रता को लिए हुए है ? इस समस्त विचित्रता का आश्रय कौन है ? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि हे नारायण ! आपमें ही ये सब लक्षण घट रहे हैं अतः आप ही परतत्त्व, परदेवता हैं, अन्य नहीं । इसके बाद पुराणोक्त-रीत्या नारायण के परतत्त्व का वर्णन करते हुए यामुनाचार्य कहते हैं :-

वेदापहार गुरुपातकदैत्यपीडा

द्यापद्विमोचनमहिष्ठफलप्रदानैः ।

कोऽन्यः प्रजापशुपती परिपाति कस्य

पादोदकेन स शिवस्स्वशिरोधृतेन ॥ स्तोत्ररत्न, श्लोक 16.

अर्थात् वेदों को चुराना, ब्रह्म-हत्या रूप महान् पातक, दैत्यों से उत्पन्न पीडा आदि आपत्तियों से मुक्त करने एवम् यथेष्ट श्रेष्ठ फलों के प्रदान करने से आपके सिवाय कौन दूसरा है जो, ब्रह्माजी और शिवजी की रक्षा एवम् पालन करता है ? वह प्रसिद्ध शंकरजी भी अपने मस्तक पर किसके चरण प्रक्षालित जल के धारण कर विशुद्ध मंगलमय हुए हैं ? अर्थात् ऐसे नारायण ही हैं, अत एव वही परतत्त्व है । यही नहीं 'विष्णु-स्तदासीद्धरिरेव निष्कलः'[1] इत्यादि श्रुतिवाक्यों में परम कारण के रूप में उल्लिखित विष्णु व नारायण के समानार्थक होने से परमतत्त्व हैं, ऐसा निश्चय होता है । परवर्ती रामानुज भी इसी विचार का समर्थन करते हैं ।

---

1. महानारायणोपनिषद्-1

ईश्वर की सगुणता

यामुनाचार्य ईश्वर या ब्रह्म की सगुण सत्ता स्वीकार करते हैं क्योंकि "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु: विशोको विजिघत्सो पिपास: सत्यकाम: सत्यसङ्कल्प:", 'य: सर्वज्ञ: सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप:' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के सगुणत्व का विधान करती हैं । इस पर शङ्का यह होती है कि ब्रह्म या ईश्वर को सगुण मान लेने पर 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्'[1] इत्यादि निर्गुणत्व प्रतिपादक वाक्यों से क्या श्रुति विरोध नहीं उत्पन्न होगा ? इसका समाधान करते हुए यामुनाचार्य कहते हैं कि निर्गुण श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म को निर्गुण बताना नहीं अपितु प्राकृत-समस्त हेयगुणरहिततत्त्व के निरूपण में है ।[2]

ब्रह्म के सगुणत्व का अभिप्राय श्रुति स्मृतियों में विहित उसके सर्वविलक्षण से है, सत्य कामत्व से है । इसी प्रकार सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियाँ भी समस्त हेय गुणों से रहित आनन्दरूपता ही परमब्रह्म का निरूपक धर्म है, ऐसा बोध कराती हैं ।

भगवान् के अनन्तकल्याणगुणगणत्व का वर्णन यामुनाचार्य इस प्रकार करते हैं :-

> वशी वदान्योगुणवानृजु: शुचिर्मृदुर्दयालुर्मधुर: स्थिरस्सम: ।
> कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावत: समस्तकल्याणगुणामृतोदधि: ।।
>
> स्तोत्ररत्न, श्लोक 21.

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6-9.

2. तथाहेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणा: ।
   प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हिते ।।
   - सिद्धित्रय आत्मसिद्धौ शौनकीय वचनम् उद्धृत ।

अर्थात् हे भगवान्! आप स्वभाव से ही आश्रितों के परतन्त्ररूपी वशीगुण के आश्रय हैं, आप परम उदार स्वभाव वाले, सुशील गुणयुक्त, सरल एवं कपट रहित, मन, वाणी, तथा शरीर से विशुद्ध कोमल स्वभाव, दयागुण से युक्त, मधुर स्वभाव, किसी से विचलित न होने वाले (स्थिर), भेदभावरहित समदर्शी, उपकार करने वाले, आश्रितों द्वारा की गयी स्वल्प सेवा को स्मरण रखने वाले, इत्यादि अनन्त कल्याण गुणों रूपी अमृत के सागर हैं ।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में अद्वैत वेदान्त के विपरीत एक ऐसे सगुण सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है जो न केवल सृष्टि चक्र की पहेलियों को सुलझाकर लोगों को बौद्धिक सन्तोष दे सके वरन् उन्हें भयंकर भवचक्र से भी मुक्ति दिला सके इसीलिए यामुनाचार्य ने भी ब्रह्म, नारायण अथवा विष्णु के ऐसे ही सगुण सविशेष रूप का वर्णन किया है जो आकृत्या सामान्य पुरुषों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है किन्तु उनके ईश्वर का दिव्य-विग्रह विशुद्ध सत् तत्त्व से निर्मित है । यही अव-धारणा योगशास्त्रकार पतंजलि की भी ईश्वर के विषय में है -

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष: ईश्वर: ।[1]

अर्थात् क्लेश (पंचाविद्याएँ) पाँच कर्म, उनके परिणाम तथा परिणामगत संस्कारों से अपरामृष्ट (अनुपचरित) एक प्रकार का पुरुष ही ईश्वर है ।

इस प्रकार यामुनाचार्य ईश्वर को सगुण रूप में वर्णित करते हुए ईश्वर के महिमामय रूप तथा गुणों का बखान करते हैं । यही ईश्वर की सगुणता है ।

---

1. योगसूत्र, 1-24

जगन्मिथ्यात्व का खण्डन

उपनिषदों के आधार पर अद्वैतमतानुयायी यह कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ अस्तित्व नहीं रखता और यह जगत् मिथ्या है ।[1] इस मत का खण्डन करते हुए यामुनाचार्य कहते हैं कि इस कथन में कोई सार नहीं है । इसका केवल यही अर्थ है कि ईश्वर के सिवाय अन्य कोई ईश्वर नहीं है और उसके जैसा और कोई दूसर नहीं है । जब उपनिषद् यह कहते हैं कि हम जो कुछ देखते हैं वह ब्रह्म ही है, और वह जगत् का उपादान कारण है, इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि और किसी का अस्तित्व है ही नहीं तथा निर्गुण ब्रह्म ही एक सत्ता है । उपनिषदों के 'एकमेवाद्वितीयम्'[2] इस वाक्य के आधार पर ब्रह्म के अद्वितीयत्व के विषय में यामुनाचार्य कहते हैं कि क्या इसमें बहुब्रीहि समास है ? अथवा नञ् तत्पुरुष समास ? वे आगे कहते हैं कि इन दोनों प्रकार के समास मानने पर भी 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति-वाक्य के अद्वैतत्व से इस प्रपञ्च का सद्भाव बाधित नहीं होता है वरन् इससे प्रपंचात्मक जगत् का अनुमोदन ही होता है ।[3] ब्रह्म की अद्वितीयता का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि उससे अतिरिक्त दूसरा नहीं है वरन् यह अर्थ लेना चाहिए कि उसके

---

1. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः । 'शङ्करकृत ब्रह्मज्ञानावलीमाला

2. छान्दोग्योपनिषद् ।

3. एकमेवाद्वितीयं (सद्) तद्ब्रह्मेत्युपनिषद्वचः । ब्रह्मणोऽन्यस्य सद्भावं ननु तत्प्रतिषेधति ।। 1 ।। अत्र ब्रूमोऽद्वितीयोक्तौ समासः को विवक्षितः किंस्वित्तत्पुरुषः किं वा बहुब्रीहिरथोच्यताम् ।। 2 ।। ... . तस्मात् प्रपञ्च सद्भाव नाद्वैतश्रुतिबाधितः स्वप्रमाणात् बलात् सिद्धः श्रुत्या चाप्यनुमोदितः ।। 16 ।।

– सिद्धित्रय, पृष्ठ 274.

सदृश अन्य कोई तत्व नहीं । उसी तरह जैसे हम कहें कि चोल राजा इस पृथ्वी पर अद्वितीय सम्राट् हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि चोल राजा के अतिरिक्त दूसरा कोई राजा इस पृथ्वी पर नहीं है अपितु इसका अर्थ यह है कि चोल राजा के समान दूसरा कोई राजा नहीं है । इससे चोल राजा के अद्वितीयत्व से भृत्य, पुत्र, कलत्रादि का निषेध नहीं होता ।[1] इस प्रकार हमें अद्वितीय में बहुब्रीहि समास के अर्थ - न विद्यते द्वितीय: अन्य: सदृश: वा यस्य अपेक्षया' को ग्रहण करना चाहिए । वे आगे कहते हैं कि अगर हम यह कहें कि सूर्य एक ही है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें रश्मियाँ नहीं हैं । अगर हम कहें कि सात समुद्र हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि उसमें लहरें, फेन और बुदबुद नहीं हैं । ऐसे पाठों का केवल यह अर्थ हो सकता है कि जगत् की उत्पत्ति उसमें - ब्रह्म से - उसी तरह हैं जैसे अग्नि से स्फुलिङ्ग और अन्त में जगत् उसी में अन्तिम आधार और स्थान पाता है । जगत् की समस्त वस्तुओं - वायु, अग्नि, पृथ्वी के उसमें अपनी शक्तियाँ प्राप्त की हैं और उसके बिना वे कुछ भी करने में अशक्य हैं ।[2]

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी यह कहा गया कि ब्रह्म से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उससे ही जीवित रहते हैं तथा अन्तत: उसी में तिरोहित हो जाते हैं - यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति ।

---

1. द्वितीयवागास्पदतां प्रतिपद्येत् तत्कथम् ? यथा चोल नृप: सम्राडद्वितीयोऽद्य भूतले ॥ 19 ॥ इति तत्तुल्यनृपतिवारणपरं वच: न तु तद् भृत्यतत्पुत्रकलत्रादिनिषेधकम् ॥ 20 ॥ सिद्धित्रय, पृष्ठ 276.

2. वही, पृष्ठ 277-80.

यामुनाचार्य कहते हैं कि यदि उपर्युक्त बातों के विपरीत यह माना जा सकता है कि जगत् मिथ्या है तो हमें अपने सारे अनुभवों की बलि देनी पड़ेगी और ब्रह्म का अनुभव भी इसी अनुभव के अन्तर्गत आ जायेगा इसलिए वह भी खत्म हो जाएगा वेदान्त का तर्क जो कि भेद के ज्ञान को मिथ्या सिद्ध करता है, वह हमारे किसी उपर का नहीं है क्योंकि अनुभव बताता है कि हम सम्बन्ध को देखते हैं, हम नीले रङ्ग को देखते हैं, कमल को भी देखते हैं और यह भी देखते हैं कि कमल का रङ्ग नीला है। इसलिए जीव और जगत् उपनिषद् के उपदेशानुसार ब्रह्म से अभिन्न रूप से सम्बन्धित है। यह अर्थ उस अर्थ से अधिक न्यायसंगत है जो सारे जगत् को और जीवों को निषेध करता है, तथा जो इन सबके चैतन्य और ब्रह्मगत चैतन्य का तादात्म्य मानकर ही सन्तुष्ट होता है।

शुद्ध, सर्वगत और निर्गुणज्ञान जैसा कुछ नहीं है जैसा कि अद्वैत वेदान्ती मानते हैं, क्योंकि हर एक को भिन्न और पृथक् ज्ञान होता है जैसे कि व्यक्तिगत सुख तथा दु:ख का। यदि एक ही चैतन्य होता तो सब कुछ सब समय के लिए युगपत् प्रकट होता। पुन: ऐसा भी श्रुतियाँ कहती हैं कि चैतन्य सच्चिदानन्द है। यदि 'सत्' चित् और आनन्द' इस त्रिविध रूप को माना जाय तो एकतत्त्ववाद का उच्छेद होना जिसकी रक्षा अद्वैत वेदान्ती बड़ी तत्परता से करते हैं। अगर वे ऐसा भी कहें ये तीनों सत्, चित्, आनन्द - ब्रह्म के रूप या गुण नहीं है वरन् ये तीनों एक ही तत्त्व को लक्षित करते हैं जो ब्रह्म है, तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि आनन्द और ज्ञान दोनों एक कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार हम अद्वैत मत का जिस किसी भी प्रकार से परीक्षण करते हैं वह अनुभव विरुद्ध तथा तर्कविरुद्ध लगता है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि जगत् के विषय में हमारा यह विचार ठीक है कि नानाविध जगत्

मिथ्या नहीं अपितु सत् है और वह बाह्य जगत् का सच्चाई से प्रतिनिधित्व करता है, ऐसा यामुन मानते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वचैतन्यजीव सर्वज्ञ ईश्वर तथा नानाविध जगत् तीनों सत् तत्त्व हैं । यामुनाचार्य कहते हैं कि जगत् ईश्वर के उद्भूत स्फुलिंग के समान हैं किन्तु इस विचार का वे विस्तार नहीं करते हैं ।[1] यह विचार अन्य पाठों में विरोध पैदा करता है जिसमें वे ईश्वर को न्यायदर्शन की तरह जगत् का निर्माता सिद्ध करते हैं । जिस प्रकार वे जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध को 'सिद्धित्रय' और 'आगमप्रामाण्य' में न्याय की दृष्टि से समर्थन करते हैं, उससे यह निश्चित होता है कि उनका दृष्टिकोण न्याय से भिन्न नहीं है जिसमें ईश्वर और जगत् के द्वैत का निरसन नहीं किया गया है इसलिए ऐसा लगता है कि यामुन का मुख्य योगदान जीवों का स्वचैतन्य स्वरूप निरूपित करना है ।[2] यामुनाचार्य ईश्वर तथा जगत् के सम्बन्ध में कोई नया विचार नहीं देते । वे जगत् की सत्ता के बारे में कोई अन्वेषण नहीं करते, वे केवल यहीं कहते हैं कि 'जगत् मिथ्या नहीं है' अपितु सत् है ।' इसी में वे सन्तोष मान लेते हैं । एक स्थान पर वे कहते हैं कि वे नैयायिकों के अखण्ड परमाणु को नहीं मानते । मूलतत्त्व का सबसे छोटा अणु त्र्यसरेणु है जो हवा में उड़ता

---

1. अनन्यत्कारणात्कार्यं पावकादिवस्फुलिङ्गवत् ।
   मृत्तिका लोहबीजादिनानादृष्टान्तविस्तरैः ॥ सिद्धित्रय, पृष्ठ 279.

2. तत्सिद्धं चैतन्यस्वभाव एवात्मा आत्मानं विदन्नेवास्ते । वही, पृष्ठ 221.

धूलि का कण है जबकि सूर्य की किरणें एक छेद से आती हैं । इससे ज्यादा जगत् की अन्तिम सत्ता के बारे में यामुन कुछ नहीं कहते ।

भक्ति एवम् प्रपत्ति

यामुनाचार्य के भक्ति सिद्धान्त को विवेचित करने से पूर्व सर्वप्रथम भक्ति के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है । भक्ति शब्द के अर्थ की व्यापकता की परिधि के अन्तर्गत न केवल पूजा-पाठ आदि प्रारम्भिक कृत्यों से लेकर उच्चतम कोटि का आत्म-दर्शन आ जाता है, अपितु लौकिक जीवन में किसी भी प्राणी के प्रति विहित श्रद्धातिरेक हेतु भी भक्ति शब्द प्राय: व्यवहृत हुआ करता है,। संभवत: किसी भी शब्द का सर्वत्र अन्धा-धुन्ध प्रयोग उसके वास्तविक अभिप्राय को ओझल तो कर ही देता है किन्तु इसके साथ ही उस शब्द का वाच्यार्थ भी स्वत: विवादास्पद सा बन जाता है । भक्ति शब्द के साथ भी प्राय: ऐसा ही हुआ । भक्ति को व्याख्यायित करते हुए आचार्य रामानुज कहते हैं कि प्रत्यक्षता की कोटि को प्राप्त होने वाली ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति शब्द का अर्थ है जिसका स्वरूप तैलधारा के समान अविच्छिन्न हो, ऐसी स्मृति ही ध्रुवानुस्मृति मानी गयी है । वेदान्तदेशिक ने विसदृशबुद्धि के व्यवधान से रहित स्मृति प्रवाहत्व कहा है ।[1] एक जगह रामानुज ने भक्ति को एक प्रकार का ज्ञान ही कहा है ।[2]

---

1. स्मृतेर्ध्रुवत्वं विसदृशबुद्धि व्यवधानरहित प्रवाहत्वम् । तत्त्वटीका, पृष्ठ 89.

2. भक्ति: ज्ञान विशेष एव - वेदार्थसंग्रह

यामुनाचार्य 'गीतार्थसंग्रह' में गीता को भक्तिशास्त्र मानते हैं। तदनुसार भक्ति ही जीवन के उच्चध्येय को प्राप्त करने का अन्तिम साधन है जो शास्त्रोक्त स्वधर्म पालन, ज्ञान और वैराग्य से उत्पन्न होती है।[1] पद्मपुराण के 'भागवत माहात्म्य' में भी ज्ञान और वैराग्य को भक्ति के दो पुत्र कहा गया है।[2]

'स्तोत्ररत्न' जिसे यामुनाचार्य के उपनाम 'आलवन्दारस्तोत्र' के नाम से भी जाना जाता है। सचमुच स्तोत्र साहित्य का मुकुटमणि है। इसे यदि प्रपत्ति शास्त्र कहें तो अत्युक्ति न होगी। 'प्रपत्ति' का अपरनाम है 'शरणागति'। जब साधक सब कुछ ईश्वर में समर्पित करके उसके शरण में चला जाता है तो इसी स्थिति को 'प्रपत्ति' कहते हैं। यह प्रपत्ति उत्कट भक्तिपूर्विका है। भक्ति के ज्ञान एवम् कर्मपरक[3] होने से उसकी सार्वभौमिकता में कमी आ जाती है फलतः जन-सामान्य की परिधि से उसकी दूरी बढ़ जाती है। समाज के जो पिछड़े लोग हैं जिनका बौद्धिक विकास तत्सम्बन्धी ज्ञान के साधनों के अभाव में न हुआ हो, जो पवित्र वेदज्ञान एवं तद्विहित कर्म के अधिकारी न हों चाहे वे शूद्र हों या फिर वर्णबहिष्कृत चाण्डाल, सम्पूर्ण समाज का अर्धांश नारीवर्ग हो या भौतिक चाकचिक्य में फँसकर अपने कर्त्तव्यों से च्युत कोई अन्य व्यक्ति या समुदाय, वे सब ज्ञान, कर्म के अभाव

---

1. स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।
   नारायणः परंब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ।। गीतार्थसंग्रह-1.

2. अहम् भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ ।
   ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ ॥ - पद्मपुराण, भागवत् माहात्म्य

3. ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगम् । रामानुजकृत गीताभाष्य, प्रथम अध्याय की भूमिका

में भगवत्प्राप्ति के उपायभूत 'भक्ति' से वंचित रह जाते हैं फलत: भक्ति के अभाव में उनके मुक्ति-मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है । यामुनाचार्य को यह स्थिति स्वीकार नहीं है कि कोई भगवत्कृपा या प्रेम से वंचित रह जाय तथा उसे भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष प्राप्त न हो । ईश्वरीय कृपा का अधिकारी तो मानवमात्र है उसमें उच्चवर्ग और निम्नवर्ग का भेद कहाँ ? इसी मानवतावादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही यामुनाचार्य ने 'स्तोत्ररत्न' में प्रपत्तिमार्ग का प्रतिपादन किया है । प्रपत्ति-मार्ग के लिए न तो शास्त्राध्ययन की अनिवार्यता है और न वर्ण-व्यवस्था का कठोर बन्धन । परवर्ती आचार्य वेदान्तदेशिक ने तो ईश्वर की प्रपत्ति या शरणागति का अधिकार पशु-पक्षियों तक का माना है, इसमें मनुष्यों का विरोध ही कहाँ ?[1]

'प्रपत्ति' या 'शरणागति के स्वरूप के बारे में आचार्य यामुन कहते हैं :-

'स्वयाथात्म्यं प्रकृत्यास्य तिरोधि: शरणागति:'[2]

अर्थात् अपने याथात्म्य परमात्मा में स्वाभाविक रूप से जीव का तिरोभाव ही शरणागति है । इसका अभिप्राय यह है कि जीव जब अपने 'अहं' भाव को छोड़कर स्वाभाविक रूप से अपने प्रियतम परमात्मा में अपने को तिरोहित कर देता है तो उसी को 'शरणागति' कहते हैं । इसी को भगवान् की प्रवृत्ति का विरोधी स्वकीय प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप 'प्रपत्ति' कहा गया है ।[3] ईश्वर की प्रवृत्ति का सबसे

---

1. यत्र च तिरश्चामप्यधिकार: तत्र द्विपदा: क: परिपन्थी? शतदूषणी, वादसं062.
2. गीतार्थसंग्रह, श्लोक संख्या 11.
3. श्रीवचनभूषण मीमांसा, पृष्ठ 43.

बड़ा विरोधी जीव का अहंकार है जिसके वशीभूत होकर वह अपने को कर्ता भोक्ता आदि समझने लगता है । यथार्थत: प्रपन्न कभी मुक्ति पाने की भी चिन्ता नहीं करता, किसी विशेष प्रकार मुक्ति प्राप्त होने पर भी उसमें उसकी रुचि नहीं होती। क्योंकि मुक्ति की कामना अथवा किसी प्रकार की विशिष्ट स्थिति को पसन्द करना अहंकार है । अहंकार के कारण ही जीव ईश्वर से अपना स्वतंत्र अस्तित्व मानता है। प्रपत्ति मार्ग तो अहंकार के सूक्ष्म संस्कारों के भी विनाश का पक्षधर है । अहंकारके पूर्ण विलयन अर्थात् परित्याग द्वारा ही प्रपत्ति या शरणागति का मार्ग प्रशस्त होता

चूँकि विशिष्ट स्थिति की कामना अहंकार है, इसीलिए यामुनाचार्य भक्ति या प्रपत्ति का व्याख्यान तो देते हैं किन्तु मुक्ति की बात नहीं करते जान पड़ते । वे मुक्ति के बारे में प्राय: मौन हैं । प्रपत्ति को ही वे मुक्ति या फिर मुक्ति से भी अधिक मानते हैं । वे केवल भगवान् की निर्हेतुकी कृपा से ही प्रसन्न जान पड़ते हैं । वे सचमुच 'प्रपन्न' हैं । अपने 'स्तोत्ररत्न' के श्लोकों के मूलस्वर में उन्होंने प्रपत्ति की अभिव्यक्ति की है, इसको वेंकटनाथ ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है । इनमें यामुन अपने को तुच्छ कीट से भी अधम[1], समस्त अवगुणों की खान स्वीकारते हुए अपने अभीष्ट भगवान् वरदराज को नानाविध उपालम्भ देते हुए सम्पूर्ण शरणागति का प्रतिपादन करते हैं ।[2] वे अनन्य शरण होकर केवल भगवान् की शरण में जाना चाहते

---

1. तव दास्यसुखैकसङ्गिनां, भवनेष्वस्त्वमपि कीट जन्म मे ।
   इतरावसथेषु मास्मभूदपिमे जन्म चतुर्मुखात्मना ।। स्तोत्ररत्न, श्लोक 58.

2. न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
   सो हं विपाकावसो मुकुन्द क्रन्दामि संप्रत्यगतिस्तवाग्रे ।। वही, श्लोक 26.

बड़ा विरोधी जीव का अहंकार है जिसके वशीभूत होकर वह अपने को कर्ता भोक्ता आदि समझने लगता है । यथार्थत: प्रपन्न कभी मुक्ति पाने की भी चिन्ता नहीं करता, किसी विशेष प्रकार मुक्ति प्राप्त होने पर भी उसमें उसकी रुचि नहीं होती। क्योंकि मुक्ति की कामना अथवा किसी प्रकार की विशिष्ट स्थिति को पसन्द करना अहंकार है । अहंकार के कारण ही जीव ईश्वर से अपना स्वतंत्र अस्तित्व मानता है। प्रपत्ति मार्ग तो अहंकार के सूक्ष्म संस्कारों के भी विनाश का पक्षधर है । अहंकारके पूर्ण विलयन अर्थात् परित्याग द्वारा ही प्रपत्ति या शरणागति का मार्ग प्रशस्त होता

चूँकि विशिष्ट स्थिति की कामना अहंकार है, इसीलिए यामुनाचार्य भक्ति या प्रपत्ति का व्याख्यान तो देते हैं किन्तु मुक्ति की बात नहीं करते जान पड़ते । वे मुक्ति के बारे में प्राय: मौन हैं । प्रपत्ति को ही वे मुक्ति या फिर मुक्ति से भी अधिक मानते हैं । वे केवल भगवान् की निर्हेतुकी कृपा से ही प्रसन्न जान पड़ते हैं । वे सचमुच 'प्रपन्न' हैं । अपने 'स्तोत्ररत्न' के श्लोकों के मूलस्वर में उन्होंने प्रपत्ति की अभिव्यक्ति की है, इसको वेंकटनाथ ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है । इनमें यामुन अपने को तुच्छ कीट से भी अधम[1], समस्त अवगुणों की खान स्वीकारते हुए अपने अभीष्ट भगवान् वरदराज को नानाविध उपालम्भ देते हुए सम्पूर्ण शरणागति का प्रतिपादन करते हैं ।[2] वे अनन्य शरण होकर केवल भगवान् की शरण में जाना चाहते

---

1. तव दास्यसुखैकसङ्गिनां, भवनेष्वस्त्वमपि कीट जन्म मे ।
   इतरावसथेषु मास्मभूदपिमे जन्म चतुर्मुखात्मा ।। स्तोत्ररत्न, श्लोक 58.

2. न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
   सो हं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि संप्रत्यगतिस्तवाग्रे ।। वही, श्लोक 26.

हैं :-

न धर्म निष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी

न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।

अकिञ्चनोऽनन्यगतिश्शरण्यः

त्वद् पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥ स्तोत्ररत्न, श्लोक-25.

अर्थात् हे सब जड़, चेतन के रक्षक प्रभो ! मैं धर्म में निष्ठावान् नहीं हूँ और आत्मज्ञानी भी नहीं हूँ । आपके चरणकमलों में पूर्ण भक्तिभाव भी रखने वाला मैं नहीं हूँ । इस प्रकार मैं सर्व प्रकार के मोक्ष साधनों से शून्य अतएव अकि चन हूँ, दूसरा भी कोई मेरी रक्षा करने वाला नहीं है अतएव मैं अनन्य गति हूँ और आपके श्रीचरणों के मूल में शरण ग्रहण करता हूँ ।

इसके बाद यामुनाचार्य भगवान् से परमाभक्ति की माँग करते हुए कहते हैं :-

अवबोधितवानिमां यथा

मयि नित्यां भवदीयतां स्वयम् ।

कृपयैवमनन्यभोग्यतां

भगवन्भक्तिमपि प्रयच्छ मे ।।/वही, श्लोक सं०

अर्थात् हे भगवन् ! मुझमें सदैव रहने वाले आपके इस शेषत्व को जैसा कि स्वयं आपने ही मुझको समझाया है उसकी तरह उसी प्रकार से भगवान् के शिवाय अन्य में भोग्यता को न पाने वाली परमभोग्या अपनी पुरुषार्थरूपा भक्ति को मुझे प्रदान कीजिए । क्योंकि भगवत्सेवा के लिए प्रेमा रूपा भक्ति का होना आवश्यक है इसी प्रकार स्वस्व

और भगवत्स्वरूप के ज्ञान के विना भक्ति नहीं बन सकती । अत: मुझे परमा भक्ति प्रदान कीजिए ।

इस प्रकार यामुनाचार्य ने 'स्तोत्ररत्न' के उपर्युक्त सरल व सहज श्लोकों के द्वारा भक्ति एवम् प्रपत्ति (शरणागति) का अत्यन्त स्वाभाविक निरूपण किया है । यामुन ने क्रमबद्ध क्रियात्मक शरणागति का जो निबन्धन स्तोत्ररत्न के रूप में किया है, वह न केवल श्रेष्ठ है अपितु परमस्तुत्य भी है ।

----------::0::----------

नवम अध्याय

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त एक प्राचीन एवम् प्रामाणिक दर्शन है तथा आचार्य रामानुज के पूर्व यह पूर्णत: प्रतिष्ठित हो चुका था। वेदों से लेकर आचार्य यामुन तक विशिष्टाद्वैत दर्शन के जो सिद्धान्त पल्लवित और पुष्पित हुए वे ही आचार्य रामानुज के समय में अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच गए । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में यथोपलब्ध सामग्री के आधार पर मैंने आचार्य रामानुज के आविर्भाव के पूर्व विशिष्टाद्वैत वेदान्त के इन्हीं तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त वेदान्तदर्शन के अन्य सम्प्रदायों विशेषकर अद्वैत वेदान्त से स्वरूपत: भिन्न रूप में प्रतिष्ठित है । इसके विभेद का एक आधार तो यही है कि जहाँ अद्वैत वेदान्त में प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत बादरायणकृत 'ब्रह्मसूत्र', 'उपनिषदों' तथा श्रीमद्भगवद्गीता का परिगणन किया गया है वहीं विशिष्टाद्वैत वेदान्त प्रस्थानग्रन्थों के समकक्ष ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा गीता के अतिरिक्त आगम ग्रन्थों, द्रविडाम्नायों तथा अन्य श्रीवैष्णवग्रन्थों को भी मान्यता देता है । आचार्य रामानुज ने इसी आधार पर विशिष्टाद्वैत वेदान्त को अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों से विशिष्ट तथा विलक्षण बना दिया । आगम ग्रन्थों, आलवारों के मधुरगीतों, द्रविडाम्नाय, दिव्यप्रबन्धों आदि में अन्तर्गूढ दार्शनिक तत्त्वों के आधाराश्मों पर ही विशिष्टाद्वैत वेदान्त का इतना विशाल भवन टिका हुआ है अत: विशिष्टा-द्वैत वेदान्त इन ग्रन्थों का चिरऋणी है । रामानुजाचार्य ने अपने पूर्व के वैष्णव ग्रन्थों तथा आचार्यों के मतों को विस्तार देकर विशिष्टाद्वैत वेदान्त को उपनिषदों द्वारा समर्थित किया तथा यामुनाचार्य के अधूरे कार्यों को पूर्णत्व प्राप्त कराया ।

ईश्वर की सिद्धि के विषय में रामानुज पूर्व विशिष्टाद्वैत न्याय-वैशेषिक

दर्शन का समर्थन करता प्रतीत होता है । न्यायवैशेषिक दर्शनों में ईश्वर को अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया गया है । विशिष्टाद्वैत में रामानुज के पूर्व आचार्य यामुन भी ईश्वर को, न्याय की पद्धति का अनुसरण करते हुए अनुमित करते हैं । यद्यपि जगत् कारणता को लेकर ईश्वर की मान्यता में भेद भी है क्योंकि न्यायवैशेषिक जहाँ ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानता है, वहीं विशिष्टाद्वैत ईश्वर को जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों कारण मानता है । इसी प्रकार रामानुज पूर्व विशिष्टाद्वैत वेदान्त सृष्टि प्रक्रिया की दृष्टि से सांख्य-योग तथा जैन दर्शनों से काफी साम्य रखता है । सांख्यदर्शन प्रकृति परिणामवाद को मानता है तो विशिष्टाद्वैत भी ब्रह्मपरिणामवाद को मान्यता देता है । सांख्य प्रकृति से ही समस्त जगत् की उत्पत्ति मानता है, विशिष्टाद्वैत वेदान्त भी यही मानता है किन्तु प्रकृति के स्थान पर ब्रह्म को प्रतिस्थापित करता है तथा जगत् को ब्रह्म का सत्कार्य मानता है । अद्वैत वेदान्त से इस बात में इसका भेद है । अद्वैत वेदान्त में जगत् का ब्रह्म का विवर्त माना गया है विकार नहीं ।

जीव के नानात्व और स्वचैतन्यत्व के विषय में भी 'विशिष्टाद्वैत' जैन, सांख्य तथा मीमांसा दर्शनों के अधिक नज़दीक है । रामानुजपूर्व यामुनाचार्य ने 'प्रतिक्षेत्रम् आत्मा भिन्न: स्वत: सुखी' कहकर जीव के नानात्व तथा स्वचैतन्यत्व को सिद्ध किया है । जैन दर्शन में भी जीव को चैतन्य लक्षण माना गया है तथा अनेकान्तवाद के द्वारा जीव के नानात्व को सिद्ध किया गया है । सांख्य दर्शन में भी पुरुष के चेतनत्व और बहुत्व को सिद्ध किया गया है । इसी प्रकार मीमांसा दर्शन भी पुरुषों की अनेकता को स्वीकार करता है ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त मानता है कि मुक्ति के बाद जीव ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त करके बैकुण्ठ लोक में निवास करता है । जैनदर्शन में भी यह मान्यता है कि देह पात के बाद मुक्त जीव ऊपर उठने लगता है और लोकाकाश के ऊपर सिद्धशिला नामक पवित्र स्थल पर आत्मस्वरूप में स्थित होकर अनन्तचतुष्टय का अनुभव करता है । मुक्ति के स्वरूप के विषय में जहाँ अन्य भारतीय दर्शन जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों को मानते हैं, विशिष्टाद्वैत केवल विदेहमुक्ति को मान्यता देता है । यह भारतीय दर्शन को विशिष्टाद्वैत वेदान्त की अद्वितीय देन है । रामानुज जीवन्मुक्ति वादियों विशेषकर शंकर की कटु आलोचना करते हैं । उनके अनुसार यदि शंकर द्वारा मान्य शरीर से विशिष्ट ही मुक्ति [जीवन्मुक्ति] मानी जाय तो यह मान्यता निश्चित रूप से 'मेरी माता बन्ध्या है' के सदृश अप्रमाण एवं असंगत होगी । आत्मा के शरीरी होने पर उसका मुक्ति से वैशिष्ट्य और मुक्ति से विशिष्ट होने पर उसका शरीर से वैशिष्ट्य परस्पर विरोधी बाते हैं । एक ही काल में परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रयण संभव नहीं है । वे शंकरोक्त अद्वैत मत में वदतो व्याघात दिखाते हैं कि शंकर भी मोक्ष को अशरीरी मानते हैं [तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् - ब्रह्मसूत्र भाष्य और आत्मा को शरीरी मानते हैं । अत: शरीरी आत्मा का मोक्ष अशरीरी कैसे हो सकता है ? इस प्रकार रामानुज ने 'विदेहमुक्ति की जो व्याख्या की है वह अद्वितीय है ।

नाथमुनि यामुनाचार्य तथा पश्चवर्ती आचार्य रामानुज आदि ने यद्यपि आलवारों के प्रेरणात्मक उपदेशों का अनुसरण किया है किन्तु कुछ मुख्य धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के बारे में उनका आलवारों से कतिपय मतभेद भी है । यथा - आलवारों का मत है कि मुक्ति हेतु भगवत्कृपा सहज है, वह भक्त के किसी गुण-विशेष

पर आधृत नहीं है । भगवत्कृपा भक्त का दैवीय विशेषाधिकार है । आलवारों का यह मत 'मार्जारकिशोरन्याय' के द्वारा समझाया जा सकता है । इसके विपरीत विशिष्टाद्वैती आचार्य यह मानते हैं कि यद्यपि भगवान् पूर्णत: कृपामय हैं फिर भी वे भक्तों पर, जब वे पुण्य कर्म करते हैं, तभी कृपा करते हैं । इस प्रकार ईश्वरकृपा निर्हेतुकीतथा सहेतुकी दोनों हैं । इसे मर्कट किशोर् न्याय से समझाया जा सकता है किन्तु आगे चलकर रामानुज के अनुयायियों मेंकुछ ने आलवारों के उपर्युक्त मत को पूर्णत: अपनाया और टैंगलै कहे गए तथा जिन्होंने इसके विपरीत दूसरे मत को अपनाया वे 'वैंगलै' कहे गए । 'टैंगलै' मत के प्रतिपादक पिल्लै लोकाचार्य हैं तथा वैंगलै' मत के प्रतिपादक वेदान्तदेशिक हैं । इस प्रकार कहा जा सकता है कि आलवारों से विशिष्टाद्वैती आचार्य किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित थे ।

विशिष्टाद्वैत समस्त ज्ञान को सत् मानता है इसलिए इसे सत् ख्याति वादी कहा जाता है । प्राचीन सांख्यदर्शन तथा प्रभाकर मिश्र भी इस मत को मान्यता देते हैं । विशिष्टाद्वैत भ्रम को भी ज्ञान की श्रेणी में रखता है किन्तु उसे आंशिक ज्ञान मानता है । प्रभाकर भी अपने अख्याति सिद्धान्त में भ्रम को आंशिक ज्ञान स्वीकार करते हैं किन्तु दोनों में किंचित् भेद है । रामानुज विशिष्टाद्वैत दर्शन भ्रमकाल में जहाँ शुक्ति में रजत का आंशिक प्रत्यक्ष मानता है वहीं प्रभाकर आंशिक प्रत्यक्ष न मानकर रजत का स्मरण मानते हैं ।

पूर्व मीमांसा को ईश्वरवाद की तरफ उन्मुख करने का श्रेय भी विशिष्टा-द्वैत को जाता है । प्रसिद्ध विशिष्टाद्वैती वेंकटनाथ या वेदान्तदेशिक ने 'सेश्वर मीमांसा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखकर 'मीमांसादर्शन' को 'ईश्वरवाद' की ओर

प्रेरित किया जिससे प्रभावित होकर आपदेव तथा लौगाक्षि भास्कर ने मीमांसादर्शन में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की ।

वस्तुत: विशिष्टाद्वैत वेदान्त अपने तात्त्विक चिन्तन के आधार पर भारतीय जनमानस में अत्यधिक समादृत हुआ है । यही इसकी सफलता है । इसका कारण यह है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मोक्षप्राप्ति के साधनभूत ज्ञानपुरस्सर भक्ति-मार्ग के साथ ही प्रपत्तिमार्ग सभी लोगों के लिए खुला था । इसके द्वारा प्राकृत जन भी सरलता से भगवद्भाव को प्राप्त कर सकते थे । यह दर्शन समाज के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही सीमित नहीं था जैसा कि अन्य भारतीय दर्शनों में हम देखते हैं । तथ्य यह है कि रामानुजपूर्व वैष्णव धर्म-दर्शन अपने सर्वांगपूर्ण रूप में विद्यमान था । एक व्यावहारिक विश्वास के रूप में वह निश्चय ही मनुष्य की उत्तम ढंग से पूर्ति कर रहा था और अपने अनुयायियों के अन्दर अनेकानेक ऐसे सन्त पैदा कर चुका था जो ऊँची आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न थे परन्तु उसे उपनिषदों का समर्थन प्राप्त नहीं था और यह बात शंकर के उपनिषदों के विशेष ढंग से भाष्य लिखने के बाद और भी अधिक स्पष्ट हो गयी थी किन्तु शंकर की व्याख्याएँ तार्किकता और ज्ञानपरता के कारण दुरूह बन गयी थीं जिन्हें समझना आम आदमी के वश के बाहर था । इन परिस्थितियों में विशिष्टाद्वैत वेदान्त ने उपनिषदों की सरल व व्यावहारिक व्याख्याएँ करके उन्हें वैष्णव धर्म के निकट किया । वस्तुत: विशिष्टाद्वैत का लक्ष्य वैष्णवधर्म दर्शन को यही समर्थन प्रदान करना था, जिसमें वह सफल रहा । यामुनाचार्य तक यह कार्य शुरू तो हो गया था किन्तु पूर्ण नहीं हो पाया था । आचार्य रामानुज ने यह कार्य पूर्ण किया तथा विशिष्टाद्वैत को भारतीय दर्शनों में विशिष्ट स्थान दिलाया ।

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त ने दर्शन के वितण्डावादी स्वरूप को मानवमस्तिष्क से निकालकर उसे यथार्थ एवम् व्यावहारिक धरातल पर उतारने का सफल प्रयास किया तथा एक ऐसे सिद्धान्त को जन्म दिया जिसे बुद्धि ग्रहण कर सके तथा हृदय अपना सके । विशिष्टाद्वैत के भक्ति-सिद्धान्त ने धर्म व दर्शन के बीच उत्पन्न खाई को पाँटने का सफल प्रयास किया । वस्तुतः नैराश्यनद में डूबते भारतीय समाज को विशिष्टाद्वैतियों ने एक ऐसा अमोघ अस्त्र दिया जिसके द्वारा वह घनघोर विपत्तियों के बादल को छाँटकर आज भी जीवित है । निश्चय ही समाज एतदर्थ उनका चिरऋणी रहेगा ।

---------::0::---------

अधीत-ग्रन्थमाला

अधीतग्रन्थमाला

1. Religion and Philosophy of Ved -
   - Keith, Harward, Oriental Series

2. Early History of the Vaishnava Sect.
   - H.C. Rai Choudhary, Calcutta University, Calcutta.

3. Bhakti Cult. in Ancient India
   - Bhagawat Kumar Goswami

4. An outline of the Religious Literature of India
   - Dr. J.N. Faruqhar, Oxford.

5. A Critical Study of the Philosophy of Ramanuj
   - Dr. Anima Sen Gupta

6. Outline of Indian Philosophy
   - M. Hariyanna, London.

7. Introduction eto Pancharatra and Ahirbudhanya Samhita
   - Otto Schrader, Adyar Library, Madras.

8. Vaishanavism, Shaivism and Minor Sects
   - R.G. Bhandarkar, Poona.

9. Life of Ramanuja Charya
   - A Govindacharya, Madras.

10. Indian Philosophy, Vol.1-2,
   - Dr. Radhakrisnan.

11. अणुभाष्य, बल्लभाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

12. अद्वैतसिद्धि, मधुसूदन सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

13. अहिर्बुध्न्य संहिता, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास ।

14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी ।

15. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, आपस्तम्ब, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

16. आर्षेय ब्राह्मण (सायणभाष्यसहित) डॉ० बी०आर० शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

17. ईश्वरसंहिता, सुदर्शन प्रेस, काँची ।

18. ईशावास्योपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

19. ऋग्वेदसंहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

20. ऐतरेय ब्राह्मण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

21. ऐतरेयोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

22. कठोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

23. केनोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

24. कौषीतक्युपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

25. माण्डूक्य उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

26. मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

27. छान्दोग्योपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

28. गद्यत्रयम्, आचार्य रामानुज, सोमानी ट्रस्ट, बम्बई ।

29. गीतार्थसंग्रह, आचार्य यामुन, तिरुमलाई वेंकटेशप्रेस, देवस्थान प्रेस, तिरुपति, आन्ध्र प्रदेश ।

30. गोपथ ब्राह्मण

31. जयाख्यसंहिता, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा ।

32. तत्त्वदीप निबन्धन, बल्लभाचार्य, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

33. तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

34. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

35. तत्त्ववैशारदी, वाचस्पति मिश्र, चौखम्भा, वाराणसी ।

36. दिव्यसूरिचरित, गरूडवाहन, अनन्ताचार्य, रिसर्च इन्स्टीट्यूट्, बम्बई ।

37. द्रविडाम्नाय-प्रबन्ध विवर्त-श्रीखेमराज, कृष्णदास वेंकटेश प्रेस, बम्बई ।

38. न्यायदर्शन ‡वात्स्यायनभाष्य‡ चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

39. न्यायसिद्धाञ्जन, वेदान्तदेशिक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

40. योगसूत्रभाष्य, संवित् प्रकाशन, मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद ।

41. पञ्चदशी, विद्यारण्यमुनि, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

42. पद्मपुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

43. परसंहिता, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़, बड़ौदा ।

44. प्रपन्नामृत, अनन्तसूरि, वेंकटेश प्रेस, बम्बई ।

45. प्रश्नोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

46. पूर्णप्रज्ञभाष्य, मध्वाचार्य, निम्बार्कपीठ, प्रयाग ।

47. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, सत्यानन्दसरस्वती, गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी।

48. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य-भामती-निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

49. ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्य, रामानुजाचार्य, उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, श्रीवत्स प्रेस, मद्रास

50. बृहदारण्यकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

51. भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती, मोतीलाल-बनारसीदास, वाराणसी ।

52. भक्तिचन्द्रिका, नारायणतीर्थ, वाराणसेय, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

53. बोधिचर्यावतार, बुद्ध बिहार, लखनऊ ।

54. भक्ति का विकास, डॉ० मुंशीराम शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

55. भागवतसम्प्रदाय, पं० बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणीसभा, काशी ।

56. भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, शारदामंदिर, काशी ।

57. भारतीय दर्शन, भाग 1 व 2, डॉ० राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।

58. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ० सुरेन्द्रनाथदासगुप्त राजस्थान ग्रन्थ अकादमी

59. श्रीमद्भागवतमहापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

60. मत्स्यपुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

61. मनुस्मृति, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

62. महोपनिषद्, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

63. महानारायणोपनिषद, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

64. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

65. मीमांसादर्शन, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

66. वाल्मीकि रामायग, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

67. विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

68. वेदान्तदीप, आचार्य रामानुज, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी ।

69. वेदान्तसार, रामानुजाचार्य, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी ।

70. वेदार्थसंग्रह, रामानुज, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,प्रकाशन, वाराणसी

71. वैखानस आगम, तिरुमलाई तिरुपति देवस्थान ट्रस्ट, तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश)

72. वैशेषिकदर्शन, चौखम्भा, वाराणसी ।

73. वैष्णवसम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास, श्री एस०के० आयंकार ।

74. वैष्णवमताब्जभाष्कर, स्वामी रामानन्द खेमराज, कृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

75 रामचरितमानस, तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

76. रहस्यरत्नजातम्, वेदान्तदेशिक, राजस्थान प्रेस, कलकत्ता ।

77. श्वेताश्वतरोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

78. शतदूषणी, वेदान्तदेशिक, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, कांची ।

79. शतपथ ब्राह्मण, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

80. शिवपुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

81. श्रीभाष्यश्रुतिप्रकाशिका, सुदर्शनसूरि, वेदान्तदेशिक बिहार सभा, मैसूर ।

82. श्रीभाष्यतत्त्वटीका, वेदान्तदेशिक, उभय वेदान्तग्रन्थमाला, मद्रास ।

83. श्रीभाष्य, भाष्यार्थ दर्पण, वीरराघवाचार्य, उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, मद्रास ।

84. श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

85. श्रीमद्भगवद्गीता (रामानुजभाष्य) गीताप्रेस, गोरखपुर ।

86. श्रीमद्भगवद्गीता (रामानुजभाष्यतात्पर्यचन्द्रिकासहित), वेदान्तदेशिक, आनन्दा ग्रन्थावली, पूना ।

87. श्रीमद्भगवद्गीता (गूढार्थसंग्रहसहित), मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

88. श्रीवचनभूषणमीमांसा, उभयवेदान्तग्रन्थमाला, मद्रास ।

89. स्तोत्ररत्न (आलवन्दारस्तोत्र) आचार्य यामुन, श्रीरंगनाथ प्रेस, वृन्दावन ।

90. श्रीवचनभूषण, विश्वनाथ, नेशनल कलकत्ता ।

91. सिद्धित्रय, आचार्य यामुन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

92. आगमप्रामाण्य, आचार्य यामुन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

93. सिद्धान्तकौमुदी, भट्टोजिदीक्षित, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली ।

94. सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

95. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

----------::0::----------